हिमालय

साहित्यकार-संसद की ओर से
लोकभारती प्रकाशन
१५ ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-१

HIMALAYA
Edited by Shrimati Mahadevi Varma
Price Rs 9 00

मूल्य	नौ रुपये
संस्करण	प्रथम संस्करण, १९६३

आवरण	सोना घोपाल
प्रकाशक	लोक भारती प्रकाशन, १५ ए महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद
मुद्रक	सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग



HIMALAYA
Edited by Shrimati Mahadevi Varma
Price Rs 9 00

संस्करण	प्रथम संस्करण, १९६३
©	महादेवी वर्मा
आवरण	सोना घोषाल
प्रकाशक	छात्र भारती प्रकाशन, १५-ए महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद
मुद्रक	सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

दक्षि पीयस

● इस पुस्तक से प्राप्य धनराशि महादेवी जी देश के
सुरक्षाकोष में दे रही हैं

अनुक्रम

•

प्राकृतिक परिवेश और संस्कृति

जड़ जगत अपने आदिम रूप में चाहे जल का अनन्त विस्तार रहा हो, चाहे अग्नि का ज्वलित विराट पिण्ड, उसमें जीव प्रकृति को उत्पन्न करने की क्षमता रहना निश्चित है।

अणु परमाणुओं ने किस अज्ञात क्षण से आकर्षित विकर्षित होकर जीवसृष्टि में अपने आपको आविष्कृत होने दिया यह तो अनुमान का विषय है, परन्तु प्रत्यक्ष यही है कि प्रकृति की किसी ऊर्जा में उत्पन्न जीवन फिर उसी से संघर्षरत रहता हुआ स्वयं परिष्कृत होता चला आ रहा है।

यह परिष्कार क्रम मानव जीवन के समान ही वनस्पति और शेष जीव-जगत में भी व्यक्त होता रहता है। मरुभूमि में उत्पन्न होने वाली वनस्पति, अपनी रक्षा के लिए, विशेष प्रकार के काँटे-शूल और रंग रसों में अपनी जीवन-ऊष्मा को व्यक्त करती है और पवन, जल आदि की वनस्पतियाँ भी अपने अपने प्राकृतिक परिवेश की अनुरूपता ग्रहण करके ही विकास कर पाती हैं।

प्राणि-जगत में भी यह परिष्कार क्रम विविध और रहस्यमय है। इस प्रकार इस विकास-पद्धति को ऐसा जैवी धर्म कहा जा सकता है जिसके द्वारा सृष्टि अपने प्राकृतिक परिवेश से कुछ संघर्ष, कुछ समझौता करके कभी उसके अनुकूल बनती कभी उसे अपने अनुकूल बनाती विकास की स्थिति उत्पन्न करती रहती है।

प्राकृतिक परिवेश से जीवप्रकृति का सम्बन्ध केवल ऐसा नहीं है जैसा सीप के सम्पुट और मोती में होता है। मोती सीप के भीतर उसके द्रव से बनता अवश्य है परन्तु उसके बनने का क्रम किसी विजातीय सिकताकण से आरम्भ होता है जो किसी प्रकार सम्पुट के भीतर प्रवेश पा लेने पर उसकी कोमलता में चुभ चुभ कर उसे द्रवित करता रहता है।

वस्तुतः प्राकृतिक परिवेश के साथ जैवी प्रकृति की स्थिति धरती और बीज की स्थिति है जो एक का दूसरे में रूप परिवर्तन है और जिसमें आदि से अन्त तक बीज को अपने नित्य के पोषण-परिवर्द्धन के लिए ही नहीं अपनी स्थिति के लिए भी धरती की आवश्यकता रहती है।

मोती सीप में ढलकर बनकर भी उससे भिन्न हो जाता है और यह पृथकता ही उसकी महार्घता का कारण है। शुक्ति-सम्पुट में बन्द रहकर अतल समुद्र में

न उमे सज्ञा मिलती है, न मूल्य। इसके विपरीत बीज की, धरती के अंधकार से बाहर आकर और वृक्ष के रूप म परिणत होकर भी धरती के अतिरिक्त कोई स्थिति नहीं है। वह तो जिससे जन्म और पोषण पाता है उसी से संघर्ष रत रहकर बढता है। शुक्ति से बाहर आकर मोती का महार्घ जीवन आरम्भ होता है और धरती छोड कर वृक्ष की निश्चित मृत्यु आरम्भ होती है।

यह नियम मानव-जीवन और उसके प्राकृतिक परिवेश के सम्बन्ध मे और भी *अधिक स्पष्ट हो जाता है क्योंकि वह भूतप्रकृति म जैवी प्रकृति का श्रेष्ठतम रूप है।* विकास की दृष्टि से महाकायता की गति लघुता की ओर और स्थूलता की सूक्ष्मता की ओर रही है। इसी नियम से किसी युग के विशालकाय जीव आज चिन्हशेष भी नहीं रह गए हैं।

मानव-जीवन जड और चेतना का ऐसा स्थायी सन्धिपत्र है, जिसमे पार्थिवता से वलयित चेतना ही को विशेषाधिकार प्राप्त है। शरीर से रहित चेतना चाहे आत्मभाव हो चाहे परमभाव परन्तु उसमे प्राण-स्पन्दन का अभाव ही रहेगा और चेतना से रहित शरीर चाहे वज्र हो चाहे मिट्टी, परन्तु उसमे विकासोन्मुख गति सम्भव नहीं रहेगी।

बौद्धिक होने के कारण मनुष्य ने कभी महाकायता को जीवन का गन्तव्य नहीं बनाया। अत प्रकृति को कभी छेनी हथौडी लेकर उसे छोटा करने के लिए तराशना नहीं पडा अन्यथा महाकाय जीवों के समान वह भी खण्ड खण्ड होकर बिखर जाता।

हृदयवान होने के कारण उसने अपने आदिम जीवन मे ही जीवन से अधिक प्रिय मूल्यों का आविष्कार कर लिया और इस प्रकार अपने प्राप्त ही नहीं, सम्भाव्य मूल्यों के लिए भी वह बार बार जीवन देने लगा। परिणामत अपने अनन्त सृजन का निरन्तर संहार करने वाली प्रकृति ने यदि उसे मिटाने का श्रम व्यर्थ समझा, तो आश्चर्य नहीं।

प्रकृति ने मानव के निर्माण के लिए यदि अपनी जैवी सृष्टि म असंख्य प्रयोग किये हैं तो मानव भी उसे देवता बनाने के लिए अपनी मनोभूमि म भावसृष्टि द्वारा अनन्त प्रयोग करता आ रहा है। आज 'पुत्रो अहं पृथिव्याः' कहने वाले पुत्र के सम्बन्ध म धरती की स्थिति 'पुत्रात् इच्छेत् पराजयम्' द्वारा ही व्यक्त की जा सकती है।

मानव जाति कब उत्पन्न हुई वह एक केन्द्र म उत्पन्न होकर पृथ्वी के भिन्न भिन्न खण्डों म फैल गई या भिन्न भिन्न भू भागों म उत्पन्न होकर सामान्य विशेषताओं के कारण जाति की सज्ञा म बंध गई आदि प्रश्न जीवन के समान ही रहस्यमय हैं और नृतत्वशास्त्री कभी इनका समाधान पा सकेंगे यह संदिग्ध है।

संस्कृत भाषा में जाति शब्द का, इतना व्यापक और गहरा अर्थ है जिसका पर्याय किसी अन्य भाषा में खोजना कठिन होगा। जाति न किसी देश विशेष से सम्बद्ध है और न किसी कुल वर्ग की सत्ता है।

सामान्यतः वह उन उभयात्मक विशेषताओं का सम्मिश्र बोध है जो बाह्य गठन से अन्तर्जगत तक फैली रहती हैं। मानव यदि जीव-जगत में कुछ निश्चित शारीरिक और मानसिक विशेषताओं का संघात है तो जाति शब्द शरीर और मानसिक दृष्टि से, उसी स्तर, श्रेणी या कक्षा के जीवों की समष्टि का संकेत देता है।

जहाँ तक बाह्य विशेषताओं का प्रश्न है प्रकृति कभी आवृत्तिप्रिय नहीं रही है। व्यक्ति तो क्या दो लता तक बाह्य रूप में एक दूसरे से भिन्न मिलेंगी। परन्तु जैसे दो तरुएँ अपने अपने स्वरूप में भिन्न जान पड़ने पर भी अपनी मूल वर्गीयता में एक रहती हैं वैसे ही पुष्पों में पुष्पत्व और लता में लतात्व एक रहेगा। मनुष्य जाति भी भिन्न भिन्न प्राकृतिक परिवेश से प्रभाव ग्रहण कर वर्ण, गठन आदि में विविध होकर भी मानवता में समान रहेगा। एक उष्ण भू भाग का कृष्णवर्ण मनुष्य, एक शीत भू भाग के गौर वर्ण वाले से भिन्न जान पड़ने पर भी मानव-सामान्य विशेषताओं में उसी जाति का सदस्य माना जायगा।

परिष्कार क्रम तो जीवन की शर्त है, अतः प्रत्येक भूमिखण्ड के निवासी मानवों ने ज्ञात अज्ञात रूप से जीवन विकास की ओर यात्रा आरम्भ की होगी यह तो निश्चित है, परन्तु सबकी यात्रा के परिणामों का एक बिन्दु पर मिलना सन्दिग्ध रहेगा। नदियों का उद्गम एक हो सकता है उनकी गतिशीलता भी निश्चित हो सकती है परन्तु गन्तव्य और दिशा का, एक से सीमित रहना अनिवार्य है। इसी कारण सभी भूखण्डों की मानव जाति एक साथ, बुद्धि और हृदय के संस्कार के एक ही स्तर पर नहीं पहुँच सकी।

संस्कृति शब्द से हमें जिसका बोध होता है वह वस्तुतः ऐसी जीवन-पद्धति है जो एक विशेष प्राकृतिक परिवेश में मानव निर्मित परिवेश सम्भव कर देती है और फिर उसी परिवेश की स्थिति में निरन्तर स्वतः आविष्कृत होती रहती है। यह जीवनपद्धति न केवल बाह्य, स्थूल और पार्थिव है और न मात्र आन्तरिक सूक्ष्म और अपार्थिव। वस्तुतः उसकी ऐसी दोहरी स्थिति है जिसमें मनुष्य के सूक्ष्म विचार कल्पना भावना आदि का संस्कार उसकी चेष्टा आचरण, कर्म आदि के परिष्कार में व्यक्त होता है और फिर चेष्टा, आचरण आदि बाह्याचार का परिष्कृति उसके अन्तर्जगत पर प्रभाव डालती है।

सभ्यता, संस्कृति का पर्याय नहीं है क्योंकि वह किसी मनुष्य के मात्र सदाचार

या सभा के उपयुक्त आचार हा को व्यक्त करती है। प्रकारान्तर से यह विशेपता मनुष्य के अन्तजगत को स्पश कर सकती है परन्तु प्रधानत इसका क्षेत्र, मनुष्य का वाह्य आचरण है। प्राय ऐसे उदाहरण मिल जाते है जिनमें वाह्य रूप से शिष्ट व्यक्ति, हृदय और बुद्धि के सस्कार की दृष्टि से असस्कृत माना जा सकता है। कारण स्पष्ट है। सस्कृति मनुष्य की सहज प्रकृति क परिमाजन स सम्बन्ध रखने के कारण मात्र बाह्याचार म सीमित नही हो पाती। अनेक बार जिसे हम ग्रामीण और सभ्य समाज क अनुपयुक्त समझते हैं वह अपने अन्तजगत के परिष्कार की दष्टि स सस्कृत मानवो की कोटि म आ जाता है।

मनुष्य की सहज प्रकृति और उसकी स्वाजित सस्कृति म एसा अविच्छिन्न सम्बन्ध है जिसम एक की स्थिति म दूसर को गति निहित है। दृष्टि क लिए जस वस्तु स रहित रग की स्थिति नही होती वसे ही मूल प्रकृति के अभाव म न विकृति म उसका अपकप सम्भव है न सस्कृति म उसका सामजस्यपूण उत्कप। इस प्रकार प्रकृति यदि गति का उपप है तो सस्कृति उस गति की दिशानिरुद्ध सयमित मर्यादा का पर्याय।

मानव-समूह शून्य से किसी शून्य म अवतरित नही होता वरन वह विशप भू-खण्ड के विशप प्राकृतिक परिवेश म जन्म और विकास पाता है। पृथ्वी एक होन पर भी अनक आकपण विकपण स प्रभावित और विविध है अत तत्वत एक होन पर भी मानव जाति को अपने पृथक परिवेशो के कारण भिन्न भिन्न समस्याओ का सामना करना और भिन्न समाधानो को स्वीकार करना पडता है।

यही विशिष्ट जीवन-पद्धति एक मानव-समूह को अन्य मानव समूहो स भिन्न सत्ता द दती है। कालान्तर म एक विशेप प्राकृतिक परिवेश म विकसित मानव-समूह अपन सम्पूण परिवेशवलयित जीवन को, एक देश या राष्ट्र का व्यक्तित्व दकर सामान्य मानव-जाति क भीतर एक उपजाति बन जाता है। व्यक्ति के व्यक्तित्व के समान ही उसका देश भी व्यक्तित्व सम्पन्न हो जाता है।

भौगोलिक परिवेश का मानव जीवन के साथ ऐसा आत्मीय सम्बन्ध रहा है कि विरल जातिया ही धम या कुल क नाम से जानी जाती हैं। अधिकाशत मानव जाति और उसकी सस्कृति प्राकृतिक परिवेश से ही सत्ता प्राप्त करती रही है। रूसी चीनी ईरानी मिश्री आदि नामो स हम उक्त देशो के निवासियो को पहचानते हैं। किसी भी महादेश या लघुदेश म निवास करन वाली मानव उपजाति म उसकी धरती का सम्बन्ध इतना सावभौम समथन और पवित्रता पा गया है कि एक जाति के द्वारा दूसरी के देश को छीनन का प्रयत्न गहित और अनतिक माना जाता है और ऐसा करन वाली मानव-जाति को, आक्रामक अत्याचारी की सज्ञा दी जाती है।

अनेक बार सबल मानव-समूह ने इस नैतिक नियम को भंग किया है परन्तु वह कभी समग्र मानव जाति के स्नेह और आदर का अधिकारी नहीं हो सका। बल्कि संघर्ष की सफलता के उपरान्त भी विजेता और विजित की संस्कृतियों में संघर्ष होता रहा और इस गम्भीर संघर्ष में वही संस्कृति विजयिनी रही जिसके पास जीवन के व्यापक मूल्य और उपलब्धियां थीं।

मानवजीवन की एकता में आस्थावान जाति के पास मानो सम्पूर्ण आकाश का विस्तार रहता है जिस पर उसे विभाजित करने वाले रंगीन बादलों के समान बनते मिटते रहते हैं।

मनुष्य और उसके परिवेश को विशेष व्यक्तित्व देने की दिशा में, उसकी जिज्ञासा अन्य वृत्तियों से अधिक क्रियाशील रही है। साधारण आहार की खोज से लेकर सूक्ष्म धर्म दर्शन साहित्य आदि की सभी उपलब्धियों के मूल में वही जिज्ञासा अथक रूप में सक्रिय रही आई है। वह मूल्यों की खोज ही नहीं, उनकी निर्मात्री भी है वह प्रकृतिगत अतृप्ति का समाधान ही नहीं देती अतृप्ति की परम्परा भी बनाती चलती है। जैसे काठ में अग्नि की स्थिति पहले से है घर्षण केवल उसे प्रत्यक्ष कर देता है उसी प्रकार मानव की जिज्ञासा में चिर अतृप्ति का अंकुर अलक्ष्य रूप से विद्यमान रहता है, जो एक समाधान के सम्पर्क से अनेक की दिशा में क्रियाशील हो उठता है।

जिन पूर्वजों से हमें धर्म दर्शन साहित्य, नीति आदि के रूप में महत्वपूर्ण दायभाग प्राप्त हुआ है उनके प्राकृतिक परिवेश के भी हम उत्तराधिकारी हैं। उनके पर्वत वन नद समुद्र ऋतुयें आदि प्राकृतिक नियम से कुछ परिवर्तित अवश्य हो गए हैं, परन्तु तत्वतः उनकी स्थिति पूर्ववत् है और उनसे हमारे रागात्मक सम्बन्ध संस्कारजन्य ही नहीं स्वार्जित भी रहते हैं।

काल-समुद्र की असंख्य तरंग भंगिमाओं को पार करता और सहस्रों झंझाओं के आघात को झेलता हुआ, जो साहित्य हम तक पहुँच सका है वह हमारे अपराजेय पूर्वजों की संघर्ष-कथा ही नहीं, उनकी उग्र प्रशान्त, कठिन-कोमल प्रकृति का उद्गीथ भी है। मेघ आकाश समुद्र, नदी, उषा आदि के जो छन्दमय चित्र उनकी तूलिका ने आंके हैं उनके इन्द्रधनुषी रंग अम्लान और उज्वल रेखायें अमिट हैं। इतना ही नहीं उस चित्रशाला की हर रेखा, हर रंग में भारत की धरती की छवि उसी प्रकार पहचानी जाती है, जिस प्रकार अनेक दर्पण-खण्डों में प्रतिफलित एक मुखाकृति के अनेक प्रतिबिम्ब।

भारत ऐसा व्यक्तित्व-सम्पन्न राष्ट्र है जिसके प्राकृतिक परिवेश में मानव जीवन की विशिष्ट संस्कार-पद्धति रही है। जीवन के परिष्कार क्रम में मनुष्य को

जो महत्वपूर्ण उपलब्धियां मिली हैं, उन्हें स्थूल रूप से धर्म दर्शन, साहित्य, कला शासननीति आचार शास्त्र के शीर्षकों में विभाजित कर सकते हैं। परन्तु ये भिन्न जान पड़ने वाली उपलब्धियां एक ही संस्कृति शरीर के अवयव होने के कारण मूलतः एक ही कही जायगी। इसी कारण इन सबकी समग्रता भारतीय संस्कृति की सत्ता में अन्तर्निहित है।

ये उपलब्धियां सम्पूर्ण भारत का दायभाग ही नहीं मानवजाति का भी उत्तराधिकार हैं। अतः जिस प्राकृतिक परिवेश में ये प्राप्त हो सकी हैं, उसके प्रति तीव्र जिज्ञासा स्वाभाविक है।

पृथ्वी, पर्वत, नदी, वन, समुद्र आदि का संघात है और इस संघात के प्रत्येक रूप को वेदकालीन मनीषा ने इतनी सजीव चित्रमयता दी है कि हमें वे परिचित ही नहीं आत्मीय जान पड़ते हैं।

हमारे और हमारे वेदकालीन पूर्वजों के बीच में समय का पाट कितना विस्तृत है यह विभिन्न अनुमानों का विषय रहा है। विदेशी शोधकर्त्ता अपने पूर्वग्रह के कारण इसे ३५०० वर्ष से दूर नहीं ले जा सके क्योंकि बाइबिल के अनुसार सृष्टि-रचना की अवधि ही ७५०० वर्ष के लगभग है।

अपने देश में अपौरुषेय कहकर वेदवाङमय सम्बन्धी जिज्ञासा ही कुण्ठित कर दी गई। इतना ही नहीं उसे ऐसी अदभुत् पवित्रता से आच्छादित कर दिया, जो दूसरों को पवित्र करने के स्थान में स्वयं अपवित्र हो सकती थी। अतः हर क्षण उसकी पवित्रता की रक्षा में सन्नद्ध प्रहरियों ने उसे असूर्यपश्य बना डाला। जब विदेशियों ने इस लक्ष्मण रेखा को पार कर लिया, तब कुछ भारतीय विद्वानों ने भी साहस किया।

जिन्होंने विदेशियों का अन्धानुकरण मात्र न करके वेदवाङमय के सम्बन्ध में अपने स्वतन्त्र मत की तर्कसरणि द्वारा स्थापना की है उनमें लोकमान्य तिलक प्रमुख हैं। वे खगोल, ज्योतिष के सिद्धान्तों के आधार पर वेदवाङमय, ब्राह्मण ग्रन्थ आदि के रचना काल के विषय में किन्हीं निष्कर्षों तक पहुंचे हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थों के निर्माण-काल में कृत्तिका नक्षत्र प्रथम माना जाता था और उसी में दिनरात बराबर होते थे। आजकल सूर्य के अश्विनी नक्षत्र में रहने पर यह स्थिति होती है। इस परिवर्तन के लिए ४५०० वर्षों का दीर्घ समय लगा होगा।

वेदों के रचना काल में मृगशिरा नक्षत्र ही प्राथमिकता पाता था और सूर्य के इसी नक्षत्र में रहने पर दिन रात बराबर होते थे। मृगशिरा ही में वसन्त-सम्पात होता था परन्तु यह स्थिति ६५०० वर्ष पूर्व ही सम्भव थी। इसी प्रकार के अन्य साक्ष्य के आधार पर कुछ मन्त्रों का समय १९००० वर्ष पूर्व तक पहुंच गया है।

भूगभ शास्त्र के अनुसार पृथ्वी, पवत, समुद्र आदि क परिवतन के आधार पर भी कुछ महत्वपूण निष्कष प्राप्त हो सके हैं।

ऋग्वेद मे पूव पश्चिम समुद्रा का भी उल्लेख मिलता है और चार समुद्रा का भी।

उभौ समुद्रावा क्षेति यश्च पूव उतापर॰।
ऋक॰ १० १३६ ५

(मुनि) दोनो समुद्रा के पास जाते हैं—एक वह जो पूव म है और दूसरा वह जो पश्चिम म है।

राय समुद्रा श्चतुरोऽस्मभ्य सोम विश्वत ।
आ पवस्य सहस्त्रिण ।
ऋक्॰ ९ ३३ ६

हे सोम! समृद्धि मे पूण चारा समुद्र और सहस्रा कामनायें हम प्रदान करो।

केवल समुद्र का उल्लेख भी अनेक सूक्तो म अनक बार आया है। सौ अरित्र (डाड) वाली नावा के वणन भी कम नही।

य ईङ्खयन्ति पवतान तिर समुद्रमणवम्।
मरुद्भिरग्न आ गहि।
आ ये तन्वन्ति रश्मिभिस्तिर समुद्रमोजसा।
मरुद्भिरग्न आ गहि।
ऋक॰ १ १९ ७, ८

हे अग्न! बादलों का सचालन करनेवाले और जल को समुद्र म गिराने वाले मरुतो के साथ आइए। हे अग्ने! सूयकिरणो के साथ सवत्र व्याप्त और समुद्र को अपने बल म आन्दोलित करने वाले मरुतो के साथ आइए।

अनारम्भणे तदवीरयेथामनास्थाने अग्रभणे समुद्रे।
यदश्विना ऊहथुर्भुज्युमस्त शतारित्रा नावमातस्थिवासम।
ऋक॰ १ ११६ ५

हे अश्विद्वय! निराधार समुद्र म पडे हुए भुज्यु को तुमने सौ डाडो वाली नाव सहित गृह पहुचा दिया। यह तुम्हारा पराक्रम है।

ऋग्वन्दि काल के चार समुद्रों में से, उत्तरी समुद्र की स्थिति, हिमालय के उपरान्त वाह्लीक और फारस के उत्तरी भाग से तुर्किस्तान के उत्तर-पश्चिम तक रही होगी जिसके अवशेष रूप में कृष्णसागर, कश्यपहृद, अराल और वल्काशहृद आदि की स्थिति है। समुद्र के उत्तर की भूमि ध्रुव प्रदेश तक फैला होगा।

दक्षिण समुद्र के अवशेष राजपूताना की साभर झील और मरुप्रदेश में मिलते हैं। पश्चिमीय समुद्र अरब सागर से मिला होगा और पूर्वीय समुद्र की स्थिति हिमालय की तलहटी से लेकर आसाम तक रही होगी।

जिस प्राकृतिक कारण से हिमालय का जन्म हुआ उसी से समुद्र भी हटे होंगे। फिर उसी क्रम से अधिक जल लाने वाली नदियों की यात्रा दीर्घ हो गई होगी, और कम जल वाली सिकता में खो गई होगी।

भूगर्भवेत्ताओं के अनुसार इस प्रकार के परिवर्तन में २५००० वर्ष से लेकर ७५००० वर्ष तक लग सकते हैं। ऐसी स्थिति में वैदिक साहित्य के निर्माण काल के सम्बन्ध में नेति नेति कहना ही उचित होगा। समय-सागर का यह अमाप विस्तार तब हम विस्मय के चरम विन्दु तक पहुँचा देता है जब हम अनुभव करते हैं कि इसकी हर लहर हमारी चिर परिचित है।

भौगोलिक रूपान्तरों ने भारत भूमि की तात्विक एकता को खण्डित नहीं किया है। इसी से वर्तमान प्राकृतिक रूप अतीत रूपों से उसी प्रकार सम्बद्ध है जिस प्रकार हम अपने पूर्वजों से।

हिमालय के लिए हिमवन्त नाम ऋग्वेद और अथर्व में अनेक बार आया है। मूजवत पर्वत का जो उल्लेख ऋग्वेद अथर्व शतपथ ब्राह्मण आदि में मिलता है, उससे ज्ञात होता है कि वह गंधार प्रदेश में स्थिति रखता था और उसके उत्तर रुद्र का स्थान था। महाभारतकार ने—

> गिरे हिमवतः पृष्ठे मुञ्जवान् नाम पर्वतः।
> तप्यते तत्र भगवान तपो नित्यमुमापतिः।

कहकर इसे स्मरण किया है।

तैत्तरीय आरण्यक में तीन पर्वतों का उल्लेख है

सुदर्शने क्रौंचे मैनागे महागिरौ।

पुराणों तथा महाभारत के अनुसार मैनाक कैलाश से उत्तर है और इसके निकट विन्दुसार सरोवर गंगा का उद्गम स्थल है।

वृहत्संहिता के अनुसार शैव पर्वत मानसरोवर और कैलाश से शोभित है और इसी के रन्ध्र या दर्रे से हम मानसरोवर पहुँचते हैं।

हिमालय की तीन श्रेणियाँ बादलों के समान पूर्व और पश्चिम छोरों तक फैली हुई हैं। बाहरी शृंखला में शिवालिक की श्रेणियाँ हैं दूसरी में कश्मीर कांगड़ा, कूर्माचल आदि हैं और फिर महा हिमवन्त की श्रेणी में नन्दा देवी, त्रिशूल, गौरीशंकर आदि उन्नत शिखर हैं। इसी श्रेणी में तुंगनाथ, केदार, बदरी आदि की स्थिति है। वहीं कुबेर की अलकापुरी बसी है। बदरिकाश्रम के पास ही गन्धमादन पर्वत है, जिसे महाभारतकार ने अतिपरिचित बना दिया है।

इस श्रेणी में १८००० से लेकर ३०००० फुट तक ऊँचे हिमाच्छन्न शिखर हैं। पूर्व की श्रेणियों में लोहित क्षेत्र और ब्रह्मपुत्र की घाटी है। पश्चिमी सीमान्त के कृष्णगिरि (सुलेमान) और नारायणवन क्षेत्र का ज्ञान भी ऋग्वेद के ऋषि को था।

संसार के किसी पर्वत की जीवन-कथा इतनी रहस्यमयी न होगी जितनी हिमालय की है। उसकी हर चोटी हर घाटी हमारे धर्म, दर्शन, काव्य से ही नहीं, हमारे जीवन के सम्पूर्ण निश्चयन से जुड़ी हुई है।

जिस प्रकार गंगा-यमुना और अन्तःसलिला सरस्वती के बिना हमारे महादेश के सजल पर रहस्यमय हृदय की कल्पना नहीं की जा सकती उसी प्रकार अभ्रंकष हिमालय के बिना देश के उन्नत मस्तक की कल्पना सम्भव नहीं है।

संसार के किसी अन्य पर्वत को मानव की संस्कृति काव्य दर्शन धर्म आदि के निर्माण में ऐसा महत्त्व नहीं मिला है जैसा हमारे हिमालय को प्राप्त है। वह मानो भारत की संश्लिष्ट विशेषताओं का ऐसा अखण्ड विग्रह है जिस पर काल कोई खरोंच नहीं लगा सका।

वस्तुतः हिमालय भारतीय संस्कृति के हर नये चरण का पुरातन साथी रहा है। भारतीय जीवन उसकी उजली छाया में पलकर सुन्दर हुआ है उसकी शुभ्र ऊँचाई छूने के लिए उन्नत बना है और उसके हृदय से प्रवाहित नदियों में घुलकर निखरा है।

प्राकृतिक परिवेश में परिवर्तन स्वाभाविक ही रहते हैं। जहाँ अतीत काल में गम्भीर वेगवती नदियाँ थीं, वहाँ जलते ताम्रपत्र जैसा दृष्टि को झुलसा देने वाला मरु का विस्तार है। जहाँ अतल समुद्र था वहाँ समविषम समतल गर्त निकल आये हैं। ऋतुएँ बदल गईं वनस्पतियों में परिवर्तन हो गया है और ग्रह-नक्षत्रों की गति में अन्तर आ गया है। परन्तु वैदिक युग से अधुनातन युग तक हिमालय से भारतीय जीवन का रागात्मक सम्बन्ध उत्तरोत्तर गहरा ही होता आ रहा है। यह गहराई इस

सामा तक पहुँच गइ है वि हिमाल्य को कभी न नेख पाने वाला भा उससे दूरी का अनुभव नही करता।

जीवन के अतल समुद्र स अपनी विगिप्ट मेधा के साथ उठने वाने वदिक मानव के समान ही, पृथ्वी के क्सिी कम्पन क कारण जल रानि से हिमाल्य भी उपर उठा हागा। पृथ्वी और पवत दोना मे वह विस्फाट-जनिन कम्पन कुछ समय नाप रही होगी, इसी से ऋषि कहता है—

य॰ पथिवीं व्यथमानामदृ दद्य पवता प्रकुपिता अरम्णात।
यो अन्तरिक्ष विममेवरीयो यो द्यामस्तम्नात्स जनास इन्द्र॥
ऋक॰ २ १२ २

जिसने व्यथित (हिल्ती हुई) पथ्वी को दढ किया जिसने क्षुध पवतो का गान्त किया जिसने विस्तत अन्तरिक्ष को फलाया और जिसन आकाग को स्थिर किया हे जनो! वह इन्द्र है।

पवता के पखा की पौराणिक क्था के मूल म भी यही कम्पन रहो होगी।

क्सिी भी दग के मानव समूह के पास वदिक वाङमय के समान प्राचीन और समृद्ध वाङमय नही है। इतना ही नही किसी भी भू-खण्ड का मानव गव के साथ यह घोषणा नहा कर सका है—

माता भूमि पुत्रो अह पथिव्या
—अयव

भूमि माना है। मैं पथिवी का पुत्र हूँ।

आश्चय नना कि इस प्रकार कहन वाले का पवन वन ननी आनि सहान्र सहान्रायें जान पडें।

गिरयस्ते पवत हिमवन्तोऽरण्य तें पथिवि स्योनमस्तु।
—अयव

ह पथ्वी। तेरे पवन तरे हिमावन नग, तर अरण्य मुखनायक हा।

धरती का सौन्दय उन्ह इतना प्रिय था कि व उस अनन्त काल तक देखत रहन की कामना करते थ—

यावत तेभि पश्यामि भूमे सूर्येण मेदिना।
तावन्मे चक्षुर्मामिष्टोत्तरामुत्तरां समाम।
—अयव

हे भूमि ! प्रकाशित सूर्य के साथ जब तक तेरी ओर देखता रहूं तब तक वर्षपर्यन्तर तक मेरी दृष्टि क्षीण न हो।

आज के वैज्ञानिक युग में, जब मनुष्य पृथ्वी से सब कुछ लेकर भी उसे नष्ट करने के साधन खोजता रहता है वैदिक मानव की यह भावना विस्मय-जनक है—

उदीराणा उतासीनास्तिष्ठन्त प्रक्रामन्त ।
पद्भ्यां दक्षिणसव्याभ्यां मा व्यथिष्महि भूम्याम् ।
० ० ०
मा ते मर्म विमृग्वरि मा ते हृदयमर्पिपम् ।

—अथर्व

उठते हुए, बैठते हुए, खड़े हुए और दक्षिण वाम पैरों से बढ़ते हुए हम भूमि को व्यथा (पीड़ा) न पहुँचायें।

हे पवित्रकरने वाली ! मैं तेरे मर्म को, तेरे हृदय को आघात न पहुँचाऊँ।

परन्तु इतनी भावुकता उन्हें बल से विरक्त नहीं बना देती

अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम् ।

मैं अपराजित, अक्षत अमर होकर पृथ्वी पर अधिष्ठित रहूँ।

सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे ।

वह पृथ्वी हमारे सर्वोत्कृष्ट राष्ट्र में ओज और शक्ति उत्पन्न करे।

हिमवन्त और भारत भूमि के प्रति इसी गम्भीर अनुराग का संस्कार लेकर युगयुगान्तर तक नवीन पीढ़ियाँ आती रही है। ऋग्वेद के ऋषि का हिमवन्त आदि-कवि वाल्मीकि के युग तक पहुँचते पहुँचते शैलेन्द्र का विशेष व्यक्तित्व पा लेता है। महाभारतकार उसे स्मरण ही नहीं करता, प्रत्युत हिंसाजनित विजय से क्षुब्ध पाण्डवों को उसके हिमशीतल अंक में समाधिस्थ कर देता है।

कविगुरु कालिदास के काव्यों में तो हिमालय सुख-दुख के अनन्त उच्छ्वासों में स्पन्दित हो उठता है। उससे जन्म पानेवाली पार्वती धरती तपश्चरण द्वारा ही शिव का वरण करके अपराजेय कुमार को जन्म देता है।

तब से आज तक यह शिव के पुंजीभूत अट्टहास सा उज्ज्वल पर्वत भारतीय साहित्य कला आदि का सहचर रहा है। इस पर दृष्टि पड़ते ही कवि के हृदय में अनन्त भावनाओं की घटायें उमड़ आती हैं और चित्रकार की आत्मा से विविध रंगमय स्वप्न बरस पड़ते हैं। मूर्तिकार को इसमें जीवन की विराटता प्रत्यक्ष हो

जाती है, स्वरकार के आरोह-अवरोह इसकी परिक्रमा करने लगते हैं और नत्यकार इसमे महाकाल के ताण्डव और लास्य की चाप सुन लेता है।

आकाश के इन्द्रनील वितान के नीचे चादनी का जमा कर बनाए गए से शिखर भारत का ऐसा मकुट जान पडते है, जिन पर किरणें केशर के फूलो के समान बरसती रहती है।

भारतीय कल्पना ने इस विराट सौदय मे शिवत्व की भावना की और इसकी सहचारिणी की खोज करते करते ही मानो तीन अनन्त समुद्रो के मिलन सीमान्त पर खडी कन्याकुमारी को चिरतन स्वयम्वरा बना दिया है।

यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि विराट अचलता का साथ असीम चचलता ही दे सकती है और अनन्त कोलाहल का उत्तर अनादि स्तब्धता म ही मिल सकता है।

हिमालय को हमने दुलघ्य माना है अलघ्य नही। अनेक बार स्नेह-तरल हृदय से हौले पग रखते हुए जिज्ञासु इस पार कर आये है, अनेक बार अस्त्र-शस्त्रो की झकार स इसकी समाधि तोडते हुए दपस्फीत अहकारी शत्रु भी इस लाघ आये है। जो जिस प्रकार का अतिथि बनकर आया, इस भूमि के निवासियो न उसकी अभ्यर्थना भी उसी प्रकार के उपकरणो से की। युद्ध मे, प्रणम्य शत्रु का, हमारे प्रणाम भी बाण की नोक पर गए हैं।

मानसरोवर तथा कैलाश को भारतवासी अपने महादेश का पवित्रतम भाग मानता रहा है और प्रत्येक युग म कवियो न उसके स्मरण से अपने काव्य को पवित्र बनाया है। वह शिव का आवास ही नही जीवन की शिवता का भी प्रतीक है। जसे जसे सप्तसिन्धव की सस्कृतिवाहिनी आगे बढती गई अन्य पवत भी उसकी आत्मीयता की सीमा म आते गए।

अनेक पौराणिक कथाओ का केन्द्र पुरातन विन्ध्य, राजस्थान का अर्बुद विन्ध्य के दक्षिण का ऋक्ष (सतपुडा की श्रेणियाँ) शुक्तिमान की पहाडियाँ दक्षिणापथ के सह्याद्रि मलय आदि स मानो एक विशाल पवत परिवार हो स्थापित हो गया, जिसम सब मिलकर ही भू भृत् का कत्तव्य सभालते हैं।

भारत नदियो की दृष्टि स भी बहुत समृद्ध रहा है। उसकी सस्कृति का आरम्भ और विकास नदियो के तटो पर ही हुआ है अत उनके प्रति भक्ति भाव उसकी सस्कृति को विशेषता बन गया है।

वदिक वाङ्मय म अनेक नदियो के नाम आये हैं जिनम कुछ के नामो म परिवतन हो गया है और कुछ अब अफगानिस्तान के सीमाप्रदेश म हैं। परन्तु अधिकाश नदियाँ हमारी जानी पहचानी ही नहा, शरीर की रक्तवाहिनी शिराओ के समान जीवन और सस्कृति की वाहिनी भी हैं।

पुराण तो कई सौ नदियों की सूची देते हैं, परन्तु ऋग्वेद में उल्लिखित नदियों की संख्या भी कम नहीं है। अष्टक ऋषि (विश्वामित्र के पुत्र) सप्त आप के अतिरिक्त अन्य ९९ नदियों की चर्चा करते हैं—

नवति नव च स्रोत्या स्रवन्ती।
ऋग्० १० १०४ ८

(निन्यानवे बहती हुई नदियाँ)

सप्त सिन्धु का उल्लेख अनेक बार हुआ है। तत्कालीन प्रमुख नदियों में गंगा यमुना, सरस्वती शुतुद्री (सतलज) परुष्णी (रावी), असिक्नी (चिनाब), वितस्ता (झेलम), आर्जीकीया (व्यास), सिन्धु सुषोमा (सोहान), मरुद्वृधा तृष्टामा रसा, श्वेत्या (स्वात), कुभा (काबुल) गोमती (गोमल), क्रमु (कुर्रम), मेहत्नु दृषद्वती की चर्चा बार बार होती रही है।

जलवायु के परिवर्तन से उत्पन्न भौगोलिक अवस्था का प्रभाव नदियों पर विशेष रूप से पड़ता है। पर्वतों के कम्पन में भी इनकी गति और स्थिति में परिवर्तन स्वाभाविक हो जाता है। आज अराल सागर में गिरनेवाली वक्षु नदी पहले कैस्पियन ह्रद में गिरती थी।

जिस सरस्वती की स्तुति में वैदिक ऋषि की कल्पना सुन्दर छन्द रचना में व्यक्त हुई है वह पहले राजपूताना में स्थित समुद्र में गिरती थी। जब समुद्र पीछे हटा और पर्याप्त मिट्टी न पड़ सकने के कारण वहाँ मरु का विस्तार मात्र रह गया, तब वह महानदी रुकती हुई क्रमशः सिकता में खो गई। दृषद्वती सरस्वती के समानान्तर बहते हुए उसी में मिल जाती थी। ये दोनों ही सरितायें जो यज्ञ की प्रमुख स्थान थीं कालान्तर में प्राकृतिक कारणों से लुप्त हो गईं। परन्तु संस्कारजन्य स्नेह और श्रद्धा के कारण भारतीय मानस सरस्वती को अन्तःसलिला कहकर और त्रिवेणी में उसकी स्थिति मानकर आज भी प्रसन्न होता है।

क्रमशः प्रसार के कारण जब दक्षिण की नदियाँ परिचय की सीमा में आ गईं तब से भारतीय जन मानस प्रत्येक संकल्प के अवसर पर सम्पूर्ण भारतवर्ष का ही स्मरण नहीं करता वह

गंगे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति।
नर्मदे, सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन सन्निधिं कुरु॥

कहकर पवित्र होता है।

प्राकृतिक परिवेश की विविध रूप रसमय सजीवता ने एक ओर वैदिक

जाती है, स्वरकार के आरोह-अवरोह इसकी परिक्रमा करने लगते हैं और नृत्यकार इसमें महाकाल के ताण्डव और लास्य की चाप सुन लेता है।

आकाश के इन्द्रनील वितान के नीचे चांदनी को जमा कर बनाए गए से शिखर भारत का ऐसा मुकुट जान पड़ते हैं जिन पर किरणें केसर के फूलों के समान बरसती रहती है।

भारतीय कल्पना ने इस विराट सौंदर्य में शिवत्व की भावना की और इसकी सहचारिणी की खोज करते करते ही मानो तीन अतल समुद्रों के मिलन-सीमान्त पर खड़ी कन्याकुमारी को चिरंतन स्वयम्वरा बना दिया है।

यह स्वाभाविक भी था क्योंकि विराट अचलता का साथ असीम चंचलता ही दे सकती है और अनन्त कोलाहल का उत्तर अनादि स्तब्धता में ही मिल सकता है।

हिमालय को हमने दुर्लंघ्य माना है अलंघ्य नहीं। अनेक बार स्नेह-तरल हृदय से हौले पग रखते हुए जिज्ञासु इसे पार कर आये हैं, अनेक बार अस्त्रशस्त्रों की झंकार से इसकी समाधि तोड़ते हुए दर्पस्फीत अहंकारी शत्रु भी इसे लांघ आये हैं। जो जिस प्रकार का अतिथि बनकर आया, इस भूमि के निवासियों ने उसकी अभ्यर्थना भी उसी प्रकार के उपकरणों से की। युद्ध में, प्रणम्य शत्रु को हमारे प्रणाम भी बाण की नोक पर गए हैं।

मानसरोवर तथा कैलाश को भारतवासी अपने महादेश का पवित्रतम भाग मानता रहा है और प्रत्येक युग में कवियों ने उसके स्मरण से अपने काव्य को पवित्र बनाया है। वह शिव का आवास ही नहीं जीवन की शिवता का भी प्रतीक है। जैसे जैसे सप्तसिन्धव की संस्कृतिवाहिनी आगे बढ़ती गई, अन्य पर्वत भी उसकी आत्मीयता की सीमा में आते गए।

अनेक पौराणिक कथाओं का केन्द्र पुरातन विन्ध्य राजस्थान का अर्बुद विन्ध्य के दक्षिण का ऋक्ष (सतपुड़ा की श्रेणियाँ) शुक्तिमान की पहाड़ियाँ दक्षिणापथ के सह्याद्रि मलय आदि से मानो एक विशाल पर्वत-परिवार ही स्थापित हो गया जिसमें सब मिलकर ही भू भृत् का कर्तव्य संभालते हैं।

भारत नदियों की दृष्टि से भी बहुत समृद्ध रहा है। उसकी संस्कृति का आरम्भ और विकास नदियों के तटों पर ही हुआ है अतः उनके प्रति भक्ति भाव उसकी संस्कृति की विशेषता बन गया है।

वैदिक वाङ्मय में अनेक नदियों के नाम आये हैं जिनमें कुछ के नामों में परिवर्तन हो गया है और कुछ अब अफगानिस्तान के सीमाक्षेत्र में हैं। परन्तु अधिकांश नदियाँ हमारी जानी पहचानी ही नहीं, शरीर की रक्तवाहिनी शिराओं के समान जीवन और संस्कृति की वाहिनी भी हैं।

पुराण तो कई सौ नदियों की सूची देते हैं परन्तु ऋग्वेद में उल्लिखित नदियों की संख्या भी कम नहीं है। अष्टक ऋषि (विश्वामित्र के पुत्र) सप्त आप के अतिरिक्त अन्य ९९ नदियों की चर्चा करते हैं—

नवति नव च स्रोत्या स्रवन्ती।
१० १०४ ८

वाङ्मय को स्थूल से सूक्ष्मतर होने वाला अभय सौन्दर्य-बोध दिया और दूसरी ओर मानव जिज्ञासा को प्रत्यक्ष समाधान से गूढ़तम दार्शनिक सरणियों तक अनन्त विस्तार दे डाला।

प्रकृति के सौन्दर्य की निश्चित रेखाओं ने यदि उन पर चेतना का आरोप सहज कर लिया तो आश्चर्य नहीं। यह आरोप स्थूल सौन्दर्य से चलकर सूक्ष्मता की उस सीमा तक पहुँच गया जहाँ वह सर्ववाद के रूप में विश्वात्मा का प्रतीक बन गया।

नदी वन पर्वत आदि के यथातथ्य चित्रों की पृष्ठभूमि में ऋषि का जो सूक्ष्म निरीक्षण है वह उस बाह्य रूपरेखा में अन्तर्निहित सामञ्जस्य को देखने की क्षमता देता है।

जो वेगवती सिन्धु की स्पष्ट रेखायें आंकता है, अरण्यानी को चिर-परिचित रूप में छायांकित करता है वही उषा वरुण आदि के अतीन्द्रिय सौन्दर्य को भावन करता है जीवन और सृष्टि के विषय में गूढ़ जिज्ञासाओं को वाणी देता है।

सिन्धु के लिए ऋषि कहता है—

> ऋजीत्येनी रुशती महित्वा परिज्रयांसि भरते रजांसि।
> अदब्धा सिन्धुरपसामपस्तमाश्वा न चित्रा वपुषीव दर्शता।
>
> ऋक्० १०–७५–७

सिन्धु की गति सरल है। वह श्वेतवर्णा और दीप्तिमती है। वह अहिंसित वेग युक्त जल को सर्वत्र पहुँचाती है। सिन्धु (वेग में) अश्विनी के समान अद्भुत और (तरंग भंगिमा में) रूपवती स्त्री के समान दर्शनीया है।

इसी प्रकार सरल स्पष्टता में वह अरण्यानी का चित्र आंकता है —

> यदारवाय वदते यदुपावति चिच्चिक।
> आघाटिभिरिव धावयन्नरण्यानि महीयते॥
>
> ऋक्० १०–१४६–२

इस घने वन में कोई जन्तु बैल के समान शब्द करता है। कोई ची चा करके मानो उसका उत्तर देता है। ऐसा जान पड़ता है मानो वीणा के भिन्न स्वरों में गोचर अरण्यानी की महिमा गान है।

दार्शनिक सूक्ष्मता के व्यापक आकाश के नीचे भारतीय जीवन अरण्य-संस्कृति अथवा हरे-भरे पुष्पों की संस्कृति का विकास करता रहा है। यह संस्कृति अपने सम जगत का धरती में बंधा रह यह अनिवार्य हो जाता है।

गगन हरित कान्तार सरिताओं का नील रजत गिरिजाल विस्तृत बहुरी

समतल, विविध वन-पशु-पक्षियों की संतति आदि भारतीय मानव के साथ साथ समय की तरंगों पर झूलते, तिरते, निरन्तर चले आ रहे हैं।

वैदिक काल के अश्वत्थ (पीपल) शमी (छेंकुर) शिंशपा (शीशम, सागौन) शाल्मलि (सेमर), पलाश (टेसू) आदि वनस्पतियाँ अनसोच आज भी ग्रामों की सीमा और नगर भागों के प्रहरी बने हुए हैं।

इक्षु मधु आज भी सुलभ हैं। यव व्रीहि गोधूम आदि धान्यों की हरीतिमा में आज भी धरती का अंचल लहराता है।

पशुओं में गो अश्व मेष महिष कुक्कुर आदि नित्य परिचित ग्राम-पशुओं से लेकर विपिनवासी हस्ति शार्दूल कृष्णसार कस्तूरीमृग आदि तक सब इस धरती के पूर्ववत् साथी हैं।

इसी प्रकार अनन्त हंस क्रौंच चक्रवाक से लेकर प्रत्यक्ष शुक शकुनि (काक) आदि विविध पक्षि-गगन में और धरित्री पर जलते स्थानप्रिय जन्तुओं से हमारे जीवन का चिर परिचय है।

दादुर वैदिक ऋषि को ही वेदपाठियों का स्मरण नहीं कराता था आज भी नदी पोखरों में उनकी स्वरलहरी उसी प्रकार गूँजती रहती है।

गौ के प्रति भारतीय की जो संस्कार-जन्य श्रद्धा है उसका अंकुर ऋग्वेद के प्रसिद्ध गो सूक्त में खोजा जा सकता है।

आ गावो अग्मन्नुत भद्रमक्रन्त्सीदन्तु गोष्ठे रणयन्त्वस्मे।
प्रजावतीः पुरुरूपा इह स्युरिन्द्राय पूर्वीरुषसो दुहानाः।
ऋक्० ६-२८-१

गौयें हमारे गृह आवें हमारा मंगल साधन करें। वे हमारे गोष्ठ (गोशाला) में विराजें। हमें आनन्द दें। वे प्रजावती हों। विविध सुन्दर आकार की गायें उषा काल में इन्द्र के लिए दुग्ध प्रदान करें।

ऋषि इस उपकारी पशु की पूजा अर्चा करके ही कर्तव्य समाप्त नहीं कर देता वरन् उसके सुखपूर्ण जीवन की भी व्यवस्था करता है—

प्रजावतीः सूयवसं रिशन्तीः शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिबन्तीः।
मा वः स्तेन ईशत माघशंसः परि वो हेती रुद्रस्य वृज्याः।
ऋक्० ६-२८-७

हे प्रजावती गौओ! तुम शोभन जौ (तृण) का भक्षण करो। सुन्दर प्रपानक (जलाशय) में निर्मल जल पियो। तुम्हें तस्कर कष्ट न पहुँचाय, हिंसक पशु आक्रमण न करें। चोट पहुँचानेवाले आयुध तुम्हें स्पर्श न करें।

गो को अदिति (आन्त्यि की माता) स्वरूप मानकर उसे अघ्न्या (अवध्य) कहा गया है।

गा मा हिंसीरदिति विराजम—अन्ति रूप गौ की हिंसा मत करो। गोघातक प्राणदण्ड का भागी होता था।

उपयोगिता वेग और दर्शनीयता की दृष्टि स अश्व का जो उत्कर्ष हुआ था, वह भी विविध और विस्मयजनक है। वह त्वरा और ओज का ही प्रतीक नहीं है, वरन प्रकृति के रौद्र चचल और शान्त सयमित दोनो रूपो का वाहक है। पवतो को कम्पित करने वाले मरुतो के वाहन भी अश्व हैं और उषा सूय आदि को ऋत-माग म लाने वाले रथ के वाहक भी अश्व हैं। उनके चित्र वण उनके ओज, उनके हिरण्यमय साज और विद्युत जसी दीप्त कल्पनाओ के वणन स्पष्ट और काव्यात्मक हैं।

क्रमश स्पष्ट प्रकृति चित्रो का स्थान ऐसे भावचित्र ले लेते हैं जिनम सूक्ष्म सौन्दयबोध के साथ किसी शाश्वत अलक्ष्य ऋत का भी सकेत प्राप्त होने लगता है।

एषा दिवो दुहिता प्रत्यदर्शि
ज्योतिर्वसाना समना पुरस्तात।
ऋतस्य पन्थामन्वेति साधु प्रजानतीव
न दिशो मिनाति।
ऋक० १–१२४–३

यह आकाश की पुत्री, आलोकवसना उषा प्रत्यक्ष उदित हुई। यह ऋत (नियम) का अनुसरण करती हुई सब दिशाओ का मान रखती है (उन्हे अधकाराच्छन्न नही रहने देता)।

व्यक्तिगत रागात्मक सम्बन्ध के परिचायक वरुणसूक्त हैं जिनम आगामी युगो मे विकास पानेवाले रहस्यवाद के अकुर स्पष्ट हैं—

क्वत्यानि नौ सख्या बभूवु सचावहे यदवृक पुराचित।
बृहन्त मान वरुण स्वधाव सहस्रद्वार जगमा गृह ते॥
ऋक० ७ ८८ ५

हे वरुण सौम्य! हमारा वह पुरातन सख्य क्या हुआ? पूवकाल म जो हमारी मित्रता हुई थी, हम उसी का निर्वाह करें। हे महान् स्वामी! तुम्हारे सहस्र द्वार वाले गृह म मैं आऊगा।

प्रकृति की जिस विविधता में उन्हें अनेक देवों का बोध हुआ था, उसी में उन्होंने एकत्व की अनुभूति प्राप्त की

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥
ऋक्० १० १० २

यह सब कुछ वह पुरुष ही है-जो भूत (उत्पन्न हो चुके हैं) और जो होने वाले हैं। वह अमृत का स्वामी और अन्न से सर्वोपरि है।

प्रकृति के उग्र रूपों के प्रति भी उनकी रागात्मिका वृत्ति केवल भय की नहीं थी, क्योंकि इस स्थिति में मानव केवल अंधविश्वास के अंधकार का बन्दी हो जाता है। उग्र रुद्र रूपों में सौन्दर्य और शिवत्व की अनुभूति केवल भीति या आतंक से सम्भव नहीं है।

रुद्र जैसे उग्रता के प्रतीक देवता की कल्पना का शिव और शंकर में पर्यवसान यही प्रमाणित करता है कि वैदिक मनीषा को प्रलय में भी सौन्दर्य की स्थिति का बोध था।

दिवो वराहमरुषं कपर्दिनं त्वेषं रूपं नमसानिह्वयामहे।
हस्ते बिभ्रद् भेषजा वार्याणि शर्म वर्म छर्दिरस्मभ्यं यसत्॥
ऋक्० १–११४–५

हम आकाश के घोर रूप वाले, पिंगल जटाधारी महान् तेजोमय रुद्र को नमस्कार पूर्वक आह्वान करते हैं। वे वरणीय भेषज हाथ में लेकर हमें सुखी करें। अपने रक्षा-कवच से हमें निर्भय करें।

इसी प्रकार मरुतों के रौद्र वेग से भी ऋषि परिचित है—

को वो वर्षिष्ठ आ नरो दिवश्च ग्मश्च धूतयः।
यत्सीमन्तं न धूनुथ।
नि वो यामाय मानुषो दध्र उग्राय मन्यवे।
जिहीत पर्वतो गिरिः।
ऋक्० १–३७–६,७

आकाश पृथ्वी को कम्पित करनेवाले मरुतो तुम में श्रेष्ठ कौन है? तुम वृक्ष की शाखाओं के समान गिरिशिखरों (पर्वतों) को कम्पायमान करते हो।

परन्तु इस उग्रता के लिए भी ऋषि की शुभकामना दृष्टव्य है—

स्थिरा व सन्तु नेमयो रथा अश्वास एषाम सुसंस्कृता अभीशव ।
ऋक्० १–३८–१२

हे मरुत गण ! तुम्हारे रथचक्र की नेमि और धुरी दृढ़ हो तुम्हारी वल्गा स्थिर हो। तुम्हारे अश्व संयत रहें।

ये विविध रागात्मक अनुभूतियाँ क्रमशः कवि को उस तत्वगत जिज्ञासा की ओर ले जाती हैं जिससे उपनिषद् काल की उदात्त चिन्तन पद्धति ही नहीं भारतीय दर्शन की विविध शाखाएं आविष्कृत होती रही है—

नासदीय सूक्त उदात्त तत्त्व चिन्तन को जन्म देनेवाली जिज्ञासा का ऐसा रूप है जो अपनी चिरन्तनता में भी चिर नवीन लगता रहा है—

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमापरो यत ।
किमावरीव कुहकस्यशर्मन्नम्भ किमासीद गहन गभीरम ।
ऋक्० १० १२९ १

उस समय (सृष्टि के आरम्भ में) न सत् था न असत था। पृथ्वी भी नहीं थी आकाश और आकाश से परे परम व्योम भी नहीं था। आवरण से कौन आच्छन्न था किसका कहाँ स्थान था ? क्या उस समय अगाध गम्भीर जल ही जल था ?

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न ।
यो अस्याध्यक्ष परमे व्योमन्त्सो अंग वेद यदि वा न वेद ॥
ऋक्० १० १२९ ७

यह अनेक प्रकार की सृष्टि कहाँ से उत्पन्न हुई ? किसने सृष्टि रचना की और किसने नहीं की यह सब वही जानते होंगे जो इसके स्वामी और परम व्योम में स्थिति रखते हैं। हो सकता है वे भी न जानते हों।

इन समस्याओं के समाधान की दिशा में जो असंख्य अन्वेषण हुए उनका अंकुर भी उन्हीं जिज्ञासुओं के मनोजगत में पहले अंकुरित हुआ।—

कामस्तदग्रे समवर्तताधिमनसो रेत प्रथमं यदासीत ।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥
ऋक्० १० १२९ ४

सर्वप्रथम उसके मन में काम (इच्छा) उत्पन्न हुआ। उसी से सर्वप्रथम सृष्टि का उत्पत्ति-कारण (बीज) निकला। कवि मनीषियों ने अपने अन्तःकरण में विचार करके बुद्धि द्वारा जो अविद्यमान वस्तु थी उसे विद्यमान वस्तु का उत्पत्ति-कारण माना।

साहित्य यदि संस्कृति का आश्रय वसन्त है तो जीवन-दर्शन का उसका धरती की गहनता में छिपा मूल कहा जा सकता है। ऐसी किसी संस्कृति की कल्पना कठिन है, जिसे किसी विशेष जीवन-दर्शन के अविच्छिन्न गति और सनातन आयु का वरदान पा सकी हो।

भारतीय चिन्तन की पद्धतियाँ भारत के प्राकृतिक परिवेश की कितनी ऋणी हैं, यह उनके तटस्थ अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है। प्रकृति के भिन्न और कभी कभी परस्पर विपरीत रूपों ने जिस प्रकार मानव अन्तःकरण में अनेक देववाद की उद्भावना, स्वाभाविक कर दी थी उसी प्रकार उन विभिन्न रूपों में स्पन्दित जीवन ने, भिन्न अंग-प्रत्यंग वाले शरीर के समान सबमें एकत्व का बोध भी अनिवार्य कर दिया। 'सर्व खल्विदं ब्रह्म'-यह सब कुछ ब्रह्म है और 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'—उस एक को विद्वान् अनेक नामों से पुकारते हैं मानो एक ही चित्र के दो ओर हैं।

भारत की प्रकृति अजस्र वरदानमयी है, अतः उसके वात्सल्य की छाया में मानव-हृदय को जीवन के ही नहीं प्रकृति के भी सब रूप आत्मीय और सहजात जान पड़े। ऋग्वेद से गीता तक पहुँच कर, फिर निर्गुण-सगुण भावधाराओं में अनेकता पाने वाले सर्ववाद या सर्वात्मवाद की कथा, जीवन के कितने लक्ष्य अलक्ष्य तटों को छू आई है यह बताने की आवश्यकता नहीं है।

वेदान्त दर्शन यदि अखण्ड चेतना के चिर एकाकीपन की एकरस कथा है तो सांख्य दर्शन निर्विकार पुरुष और चिर परिवर्तनशील प्रकृति का मधुर द्वन्द्वगीत है।

काव्य में जो तत्व सौन्दर्य की सीमा में बंध गया है वही दर्शन में सत्य के रूप में मुक्त हो सका है और पुनः वही नैतिक धरातल पर शिव की परिभाषा में अवतरित हुआ है।

भारतीय संस्कृति विविधतामयी है, क्योंकि भारतकी प्रकृति अनन्तरूपा है। वह समन्वयवादिनी है, क्योंकि प्रकृति सबको स्वीकृति देता है। किसी एक विचार, एक भावना और एक धारणा की सीमा उसके लिए बन्धन है, क्योंकि वह असंख्य नदियों-स्रोतों को अपने में मुक्ति देनेवाला समुद्र है।

अपने विशेष प्राकृतिक परिवेश में किसी मानव-समूह के कालसिद्ध आत्मीय तथा रागात्मक सम्बन्ध की शासन-परक स्वीकृति ही उसकी राष्ट्रीयता की सत्ता पा लेती है।

राष्ट्र शब्द भी हम अपने वैदिक-दर्शन पूर्वजों से प्राप्त हुआ है और उक्त सत्ता के साथ जो प्राकृतिक परिवेश और उसमें अन्तर्निहित रागात्मक भावना है वह भी हमारा परम्परागत उत्तराधिकार मानी जायगा।

राष्ट्र भावना का देश विशेष में वही स्थान रहता है जो भिन्न अवयव वाले

गरीर म चेतनावेन्द्र का होता है। पाव के नीचे आ जान वाले अगारे की जग्न या फूल का स्पश-पुलक दाना का अनुभूतिया जस मस्तिष्क का चेतनाकन्द्र सार गरीर म पहुँचा देता है, एक अग का पीडा या पुलक को सम्पूण शरीर की बना देता है उसा प्रकार राष्टीयता प्रत्येक सुख-दु खात्मक स्थिति को विनेष भूमिखण्ड की मानवसमष्टि म व्यापकता दे देती है।

सामान्य विश्वभावना या विश्वमानवता से उसका विरात्र सम्भव नही है, क्योकि य विभिन्नतायें उसी एकता स उत्पन्न और तत्वत एक है। नदिया का समुद्र स विराध सम्भव नही क्योकि उनका सामान्य गन्तव्य वहा है। समुद्र म काइ नदी तटा के साथ प्रवश नही करती परन्तु समुद्र तक पहुचान क साधन रूप म वह तटा का साथ लाती है।

भारतराष्ट्र शब्द म भारतभूमि उसक निवासी और उनकी सस्कृति तो अन्त निहित है ही, उक्त सत्ता स व विश्व की राष्ट्रसमष्टि म अपनी स्थिति का बाध भी करत है और दूसरा का अपना परिचय भी दत है।

राष्ट्र क समान स्वराज्य गब्द भी प्राचीन है। वैदिक मनीषा का स्वराज्य ही नही साम्राज्य महाराज्य पारमष्ठिराज्य आदि आठ गासन-तन्त्रा का बाध था परन्तु उनकी अपनी प्रिय गासन-पद्धति गण-तान्त्रिक और स्वराज्यमयी थी जिसम व्यक्ति समष्टि का समर्पित रहता था। इसी स ऋषि कहता है—

> आ त्वाहार्षमन्तरेधि ध्रुवस्तिष्ठा विचाचलि।
> विशस्त्वा सर्वा वाञ्छतु मा त्वद्राष्ट्रमधिभ्रशत ॥
> ऋक० १० १७३ १

तुम्हे राष्ट्रपति बनाया। तुम इस देश म अटल अविचल स्थिर रहा। विश (जन) तुम्हे चाह। तुम्हार राष्ट्र का ह्रास न हा।

विश (जन) म भी सबकी एकान्त अभिलाषा थी

> व्यचिष्ठे बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये।
> ऋक० ५ ६६ ६

बहुमन म रक्षित इस अपन विस्तृत स्वराज्य क हित क लिए हम यत्न करें।

> अहमस्मि सहमान उत्तरोनाम भूम्याम।
> अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहि ॥
> अथव० १२ १ ५४

अपनी भूमि के लिए और उसके दुःख दूर करने के लिए मैं सब प्रकार के कष्टों का वरण करता हूँ—वे कष्ट चाहे जिस दिशा से आवें और चाहे जिस समय आवें।

उनके स्वराज्य में समिति (बड़ी सभा) और सभा (छोटी सभा) का विशेष महत्व है। राष्ट्रपति या गणपति का निर्वाचन पुनर्निर्वाचन तो समिति करती ही थी, आवश्यकता होने पर उसे पदच्युत भी करती थी।

ऋग्वेद के दसवें मण्डल के ज्ञान-सूक्त तथा समान या एकमत्य सूक्त भी विशेषता रखते हैं। एक में सार्थक वाणी और उसके द्वारा प्रथित ज्ञान की ऐसी व्याख्या है जो चिर नवीन रहेगा।

अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः।
आदघ्नास उपकक्षास उत्वे ह्रदा इव स्नात्वा उत्वे ददृश्रे॥
ऋक्० १०-७१

जिनके पास (सत्य परीक्षण के लिए) दृष्टि होती है (ज्ञान की बात सुनने के लिए) श्रवण होते हैं ऐसे (समान ज्ञानी) सखा मनोभावों को व्यक्त करने में असाधारण होते हैं। ज्ञान की दृष्टि से इनमें कोई मुख तक जल से पूर्ण पुष्कर के समान है, कोई कटि तक जलवाले सरोवर जैसे हैं और कोई स्नान के उपयुक्त जलयुक्त गंभीर ह्रद हैं।

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
ऋक्० १०-७१ २

बुद्धिमान जन भाषा को बुद्धिबल से वैसे ही परिष्कृत करते रहते हैं जैसे सक्तु (सत्तू) चलनी से छान छान कर परिष्कृत किया जाता है।

समान सूक्त में मतभेदों की स्वीकृति देते हुए भी एक निर्णय के लिए आवश्यक जिस एकता की कामना की गई है, उस पर किसी भी राष्ट्र की प्रगति निर्भर रहती है।

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥
ऋक्० १० १९१-४

तुम्हारा कर्म (अध्यवसाय) समान हो। तुम्हारे हृदय और मन भी समान हों। तुम एक मति वाले होकर सब प्रकार से सुसंगठित होओ।

प्रस्तुत सग्रह के विषय में

हमारे राष्ट्र के उन्नत शुभ्र मस्तक हिमालय पर जब सघर्ष की नील-लोहित आग्नेय घटाएं छा गईं तब देश के चेतनानरेन्द्र ने आसन्न सकट की तीव्रानुभूति देश के कान कान में पहुचा दी।

धरती की आत्मा के शिल्पी होने के कारण साहित्यकारों और चिन्तकों पर विशेष दायित्व आ जाना स्वाभाविक ही था। इतिहास ने अनेक बार प्रमाणित किया है कि जो मानव समूह अपनी धरती से जिस सीमा तक तादात्म्य कर सका है, वह उसी सीमा तक अपनी धरती पर अपराजेय रहा है।

इस तादात्म्य के अनेक साधनों में विशिष्ट साहित्य है। किसी भूमिखण्ड पर किस मानव-समूह का सहजात अधिकार है इसे जानने का पूर्णतम प्रमाण उसका साहित्य ही है। विशेषत धरती से सस्कारगत आत्मीयता बिना हुए कवि उसके वन नदी पर्वत आदि के सम्बन्ध में गाता नहीं। वह ससार भर की प्रकृति के सौन्दर्य पर मुग्ध हो सकता है उसे छन्द का परिधान दे सकता है, किन्तु सस्कारगत साहचर्य के अभाव में उसे अपने व्यक्तित्व का अग नहीं बना पाता। माता जैसे अन्य के सुन्दर बालक पर मुग्ध हो सकती है परन्तु जो आत्मीयता वह अपने असुन्दर बालक के लिए अनुभव करती है उसे वह अन्य के सुन्दर बालक को नहीं दे पाती।

जगमगाते स्वच्छ नगर में रहने वाले भी अपने धूमिल मलिन ग्राम के विरह में खिन्न होते हैं। गुलाब के उद्यान और अगूर की बेलों के बीच बैठकर भी मनुष्य को अपने ग्रामीण घर के द्वार पर लगे नीम करील का स्मरण हो आता है।

आधुनिकयुग के साहित्यकार को भी अपने रागात्मक उत्तराधिकार का बोध था।

इसी से हिमालय के आसन्न सकट ने उसकी रचना को ओज के नाद और आस्था की वाणी के स्वर दे दिए हैं।

मेरे विचार में तात्कालिक समस्याओं के मूल में यदि सनातन मूल्यों की धरती न हो तो वे पुष्पदान के सिक्त के फूल हो जाती हैं जिनमें विकास क्रम की निरन्तरता सम्भव नहीं रहती।

प्रस्तुत सग्रह में मैंने भारतीय मानस के प्रशान्त क्षणों की रागभूमि को आर

सकल किया है। उस तात्कालिक सीमा में घेरने का लक्ष्य न होने पर भी, उसमें तात्कालिक मनोरागों की स्थिति भी स्वाभाविक रहेगी। एक पूजा की थाली अनेक पूजार्थियों के विविध रंग मधुगन्ध वाले फूल अक्षत चन्दन सँभाल लेती है।

संग्रह को प्रकाश में आने के लिए अनेक असुविधाओं के बीच से मार्ग बनाना पड़ा है अतः यह स्वाभाविक है कि वह न मेरे स्वप्न के अनुरूप हो न दूसरों की आशा के अनुरूप। परन्तु देवता की महत्ता, अर्चना के लघुतम उपकरण को भी महार्घता देने में समर्थ है।

प्रयाग — महादेवी

महाशिवरात्रि

सं० २०१९

हि
मा
ल
य



आर्षवाणी

•

हिमालय

ध्रुवा एव व: पितरो युगे युगे क्षेमकामास
सदसो न युञ्जते।
अजुर्यासो हरिषाचो हरिद्रव आ
द्यावापृथिवीमपुथुवु ॥
—ऋक्० १० ९४-१२

युग-युगान्तर से ये तुम्हारे पूवज पवत ध्रुव और अचल खडे हुए हैं। जान पडता है इनकी इच्छायें पूण हो गई हैं और इन्हें कही आने जाने की आवश्यकता नहीं रही। ये अजर और हरीतिमामय वृक्षों से परिपूण हैं और (पक्षियो के) मधुर रव से आकाश-पृथिवी को मुखरित करते रहते हैं।

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य
समुद्र रसया सहाहु।
यस्येमा प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै
देवाय हविषा विधेम॥
—ऋक्० १०-१२१ ४

ये हिमवन्त पवत जिसकी महिमा गाते हैं, जिसके महत्व की घोषणा पृथ्वी (नदी) सहित समुद्र कर रहा है और जिसके सामथ्य की अभिव्यक्ति, ये प्रदिशायें, (उसकी) बाहुवत होकर कर रही हैं, उस देव की हम हविष्य से आराधना करते हैं।

हिमवत प्रस्रवन्ति सिन्धौ समह सगम।
आपोह मह्य तद् देवीददन हृद्द्योत भेषजम्॥
—अथव० ६ २४-१

हिमालय से निकलने तथा समुद्र में मिलने वाली सरितायें हम दिव्य ओषधिया प्रदान करें।

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोरण्य ते पृथिवि
स्योनमस्तु।

—अथर्व० १२-१ ११

हे पृथिवी! तेरे ये पवत तेरे हिमावृत अचल, तेरे अरण्य हमारे लिए सुखकर हो।

इमे मे गङ्गे सरस्वति शुतुद्रि स्तोम सचता
परुष्ण्या।
असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये
शृणुह्या सुषोमया।।

—ऋक० १० ७५ ५

हे गगा, सरस्वती, शुतुद्री (सतलज), परुष्णी (रावी), असिक्नी (चिनाव) के साथ मरुद्वृधा (चिनाव और झेलम के बीच की मरुवदवन नामक सहायक नदी), वितस्ता (झेलम), सुषोमा (सोहान) तथा आर्जीकीया (व्यास) तुम सब मेरी स्तुति मे भाग लो और उसे सुनो।

स्मृत्यार्चन

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥

—गीता १०-२५

मैं महर्षियों में भृगु, वाणियों में एक अक्षर (ओंकार) यज्ञों में जप यज्ञ और स्थिर रहनेवालों में हिमालय हूँ।

हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्विनशनादपि।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः ॥

—मनुस्मृति, २ २१

हिमालय और विन्ध्य के मध्य जो सरस्वती के पूर्व और प्रयाग के पश्चिम में है वही मध्य देश माना गया है।

शैलानां हिमवन्तं च नदानामथ सागरम्।

—ब्रह्माण्ड पुराण

पर्वतों में (अधिपति के रूप में) हिमालय की तथा नदों में (अधिपति के रूप में) समुद्र की रचना की गई।

यज्ञार्थं मया स्रष्टा हिमवानचलेश्वरः।

—विष्णुपुराण

यज्ञ में (देवताओं के साथ) भाग लेने के लिए मैंने पर्वतों के अधिपति हिमालय की सृष्टि की।

●

हिमवान

हिमवानयमुत्तुग सगत सतत श्रिया।
कुल क्षोणी भृता धुर्यो धत्ते युष्मदनुक्रियाम्॥

यह हिमवान पवत अति उच्च और श्री सयुक्त है। पवता म प्रमुख है मानो आपका (जो राजाओ म श्रेष्ठ हैं) अनुकरण कर रहा हो।

चित्रैरलङ्कता रत्नैरस्य श्रेणी हिरण्मयी।
शतयोजनमात्रोच्चा टक्च्छिन्नेव भात्यसौ॥

इसकी हिरण्मयी रत्नजटित और शतयोजन ऊँची चोटी है। ऐसा जान पडता है मानो (किसी शिल्पी ने) टाकी से गढ कर बनाई है।

स्व पूर्वापर कोटिभ्या विगाह्य लवणाणवम्।
स्थितोऽय गिरिराभाति मानदण्डायितो भुव॥

अपने पूव पश्चिम के किनारो स ल्वण समुद्र म अवगाहन कर स्थित, यह पवत ऐसा शोभित हो रहा है मानो पृथ्वी को नापने का मानदण्ड हो।

अस्यानुसानु रम्येय वनराजी विराजते।
शश्वदध्युषिता सिद्धविद्याधर महोरगै॥

सिद्ध विद्याधर और नाग जिसम निरन्तर निवास करते हैं ऐसी वनराजी इसके शिखर प्रान्त मे शोभित है।

तटाभोगा - विभात्यस्य ज्वल्न्मणि - विचित्रिता।
चित्रिता इव सक्रान्तै स्ववघूप्रतिविम्बकै॥

प्रदीप्त मणिया से जटित इसके तट प्रदेश (ढाल) ऐसे शोभित होते हैं मानो उन रत्ना म प्रतिबिम्बित स्वगवधुओ के प्रतिबिम्बो से ही बनाये गए हो।

पर्यन्तस्य वनोद्देशा विकसितकुसुमस्मिता ।
हसन्तीवामरोद्यान - श्रियमात्मीयया श्रिया ॥

फूले हुए फूलों में हँसते हुए से इसके चारों ओर के वन प्रदेश ऐसे जान पड़ते हैं मानो अपनी श्री से अमरों के नन्दन वन पर हँस रहे हों।

मूर्ध्नि पद्म - हृदोऽस्यास्ति घन - श्री बहुवर्णन ।
प्रसन्नवारिरुत्फुल्ल - हैमपंकज - मण्डन ॥

इसके मस्तक पर श्री-युक्त पद्म नामक सरोवर है, जो बहुत प्रकार से वर्णित और स्वच्छ जल तथा विकच स्वर्ण कमलों से शोभित है।

हृदम्यास्य पुर प्रत्यक्तोरणद्वार - निर्गते ।
गगासिन्धू महानद्यौ धत्तेऽयं धरणीधर ॥

यह पर्वत पद्मसरोवर के पूर्व दिशा के तोरणद्वार से निकली गंगा महानदी तथा पश्चिम तोरणद्वार से निकली सिंधु महानदी को भी धारण करता है।

सरित रोहितास्या च दधात्येष शिलोच्चय ।
तदुदक्तोरणद्वारानि सृत्योदङ्मुखी गताम् ॥

पद्मसरोवर के उत्तर तोरणद्वार से निकल कर उत्तर की ओर बहती हुई रोहितास्या नदी को भी यह पर्वत धारण किये हुए है।

महापगाभिरित्याभिरऽध्याभिर्विभात्ययम् ।
तिसृभि शक्तिभि स्व वा भूभृद्भाव विभावयन् ॥

इन अलध्य तीन महानदियों से यह पर्वत ऐसा सुशोभित है मानो (मन्त्र, उत्साह और प्रभुत्व) तीन शक्तियों से अपने भूभृत भाव (पृथ्वी का धारण करने की क्षमता) को दिखा रहा है।

—महापुराणान्तर्गत
आदिपुराण
पर्व ३२ (जैन साहित्य)

अस्त्युत्तरस्या दिशि वै गिरीशो हिमवा महान् ।
पवतोहि मुनिश्रेष्ठ महातेजास्समृद्धिभाक् ।।१४।।
द्व रूप्य तस्य विख्यात जङ्गमस्थिर भेदत ।
वणयामि समासेन तस्य सूक्ष्मस्वरूपकम् ।।१५।।
पूर्वापरौ तोयनिधि सविगाह्य स्थितोहि य ।
नाना रत्नाकरो रम्यो मानदण्ड इव क्षिते ।।१६।।
नानावृक्षसमाकीर्णो नाना शृङ्गसुचित्रित ।
सिंहव्याघ्रादि पशुभिस्सेवितस्सुखिभिस्सदा ।।१७।।
तुपारनिधिरत्युग्रो नानाश्चयविचित्रित ।
देवर्षिसिद्धमुनिभिस्सश्रित शिवसप्रिय ।।१८।।
तप स्थानाऽति पूतात्मा पावनश्च महात्मा ।
तपस्सिद्धिप्रदोत्यन्त नाना धात्वाकरश्शुभ ।।१९।।
स एव दिव्य रूपोहि रम्य सर्वांग सुदर ।
विष्ण्वशोऽविकृत शैलराजराजस्सताम्प्रिय ।।२०।।

उत्तर दिशा म गिरिया का अधिपति, समृद्धिभाजन, तेजयुक्त, महान हिमवान पवत स्थित है।

स्थिर और जगम के भेद से उसके दो रूप विख्यात हैं। सक्षेप मे उसके सूक्ष्म स्वरूप का वणन करता हूँ।

यह पूव पश्चिम के समुद्रा म अवगाहन कर स्थित, विविध रत्नों का आकर, रम्य और पृथ्वी के मानदण्ड के समान है।

अनेक प्रकार के वृक्षा से आकीण अनेक शिखरो से सुचित्रित, सिंह व्याघ्र आदि पशुआ द्वारा सुखपूवक सवित है।

यह तुपारनिधि उग्र अनेक आश्चर्यों से युक्त देवर्षि सिद्ध मुनिया का आश्रय और शिव का प्रिय है।

यह अति पूतात्मा, तपस्थान पवित्र करने वाला उदात्त जनो के तप के लिए सिद्धिप्रद, विविध धातुआ का आकर और शुभ है।

यह दिव्य रूप रम्य सर्वांग सुदर विष्णु अश की अभिव्यक्ति शलराजाधि राज और सज्जनो को प्रिय है।

—पावती खण्ड ३

मत्स्यपुराण

•

नगाधिराज

आलोकयन्नदी पुण्यान्तत्समीप हृतश्रम ।
स गच्छन्नेव ददृशे हिमवन्त महागिरिम् ।

पवित्र हैमवती नदी का अवलोकन कर और उसके सान्निध्य से विगतश्रम होकर चलते चलते मद्रराज न महागिरि हिमवान को देखा।

ग्वमुल्लिखिद्भिर्बहुभिर्वृत्त शृगै तु पाण्डुरै ।
पक्षिणामपि सञ्चारैर्विना सिद्धगति शुभम् ॥

वह आकाश को छूते हुए से आपीत धवलिम शृगो से युक्त (उत्तुगता के कारण) पक्षियो के आवागमन से रहित, सिद्ध जनों द्वारा गम्य और शुभ था।

नदीप्रवाहसञ्जातमहाशब्दै समन्तत ।
असश्रुतान्यशब्दन्त शीततोय मनोरमम् ॥

चतुर्दिक् नदियो के प्रवाह से उत्पन्न महाशब्द (कलकल ध्वनि) के कारण वहा अन्य शब्द नहीं सुने जाते थे और वह शीतल जल से युक्त तथा मनोरम था।

देवदारुवनैर्नीलै कृताधोवसन शुभम् ।
मेघोत्तरीयक शैल ददृशे स नराधिप ॥

गहन हरीतिमामय देवदारु के वन जिसका शुभ अधोवस्त्र थे और मेघ जिसका उत्तरीय बन गए थे, ऐसे पर्वत को राजा ने देखा।

श्वेत मेघकृतोष्णीष चन्द्रार्कमुकुट क्वचित् ।
हिमानुलिप्तसर्वाङ्ग क्वचिद्धातुविमिश्रितम् ॥

उज्ज्वल मेघ उसका उष्णीष (पगडी) और चन्द्र और सूर्य मुकुट जान पडते थे। उसका सर्वांग हिम से अनुलिप्त और कहीं कही गैरिक आदि धातुओ से शबलित था।

चन्दनेनानुलिप्ताङ्ग दत्तपचाङ्गुल यथा।
शीतप्रद निदाघेऽपि शिलाविकटसकटम्।
सालक्तकैरप्सरसा मुद्रित चरणै क्वचित्॥

चन्दनानुलिप्त उसका अग पचागुल के चिह्नो से चिह्नित सा था। वह महाशल ग्रीष्मकाल म शीतप्रद, विकट शिलासमूहो से सकुल और कही कही अप्सराओ के अलक्तक प्रसाधित चरण चिह्नो से मुद्रित सा था।

क्वचित्सपृष्टसूर्याशु क्वचिच्च तमसावृतम्।
दरीमुखै क्वचिद्भीमै पिबन्त सलिल महत्॥

उसका कुछ भाग सूय की किरणो से प्रकाशित और कुछ भाग अधकार से आच्छन्न था। कही कही वह अपने कन्दरा रूपी भीमाकार मुख स (प्रवाहित होती) जलराशि को पी सा रहा था।

निरुद्धपवनैर्देशैर्नील - शाद्वल - मण्डितै।
क्वचिच्च कुसुमैर्युक्तमत्यन्तरुचिर शुभम्॥

वह महाशल कही कही वायु सचार से शून्य नीली (गहरी हरित) घासयुक्त प्रान्तरो और कही कहा (विविध रगो वाले) फूलो के कारण अत्यन्त रमणीय जान पडता था।

समालब्धजलै शृगै क्वचिच्चापि समुच्छ्रितै।
नित्यक्तापविषमरगम्यैमनसा , युतम्॥

उसके कितने ही शिखर प्रपातयुक्त हैं। कितने ही अपनी उत्तुगता के कारण मन से भी दुरारोह और सूय के ताप के कारण सवथा विषम (अगम्य) हैं।

देवदारु - महावृक्ष - व्रज - शाखा - निरन्तरै।
वशस्तम्बवनाकारै प्रदेशैरुपशोभितम्॥

उसके कुछ भाग देवदारु के विशाल वृक्षो की शाखाओ की विपुलता के कारण निविड सघन हैं और कुछ भाग बासो के स्तम्बाकार वनो से आच्छन्न हैं।

हिमच्छन्नमहाशृंग प्रपातशतनिर्झरम्।
शाद्वलश्यामवुविपम हिमसरद्धकन्दरम्॥

उसके महाशृंग हिम से आच्छादित हैं और उससे सकडो निझर झर रहे हैं। उसकी गुफायें हिमरुद्ध हैं और वनो की सघनता के कारण (निझरा की) ध्वनि मात्र से जल की स्थिति का अनुमान होता है।

अहीनशरण नित्यमहीनजनसेवितम्।
अहीन पश्यति गिरिमहीन रत्नसम्पदा॥

सतत विशाल शरणस्थल, उदात्त जनो से सेवित, रत्नसम्पत्ति म श्रेष्ठ इस महान पवत का, कोई महान जन ही दशन पाता है।

अध्याय, ११६

•

हिमकन्या

शैलेन्द्रो हिमवान्नाम धातूनामाकरो महान्।
तस्य कन्याद्वय जात रूपेणाप्रतिम भुवि ॥१॥

या मेरुदुहिता राम तयोर्माता सुमध्यमा।
नाम्ना मेना मनोज्ञा वै पत्नी हिमवत प्रिया ॥२॥

तस्या गङ्गेयमभवज्ज्येष्ठा हिमवत सुता।
उमा नाम द्वितीयाभूत्कन्या तस्यैव राघव ॥३॥

अथ ज्येष्ठा सुरा सर्वे देवतार्थचिकीर्षया।
शैलेन्द्र वरयामासुगङ्गा त्रिपथगा नदीम् ॥४॥

ददौ धर्मेण हिमवास्तनया लोकपावनीम्।
स्वच्छन्द पथगा गङ्गा त्रैलोक्यहितकाम्यया ॥५॥

या चान्या शैलदुहिता कन्याऽऽसीद्रघुनन्दन।
उग्र सा व्रतमास्थाय तपस्तेपे तपोधना ॥६॥

उग्रेण तपसायुक्ता ददौ शैलवर सुताम्।
रुद्रायाप्रतिरूपाय उमा लोकनमस्कृताम् ॥७॥

सैषा सुरनदी रम्या शैलेन्द्रस्यसुता तदा।
सुरलोक समारुढा विपापा जलवाहिनी ॥८॥

धातुओं की खान और शैलों में इन्द्र, महान हिमालय के दो कन्यायें हुईं, जो पृथ्वी पर अप्रतिम थीं।

हे राम! इन कन्याओं की माता मेरुपर्वत की सुन्दरी पुत्री और हिमवान की मनोज्ञ प्रिय पत्नी, मेना है।

हिमालय की ज्येष्ठ कन्या गंगा है और उसकी द्वितीय पुत्री का नाम उमा पड़ा।

हिमालय की ज्येष्ठ पुत्री त्रिपथगा गंगा को सब देवता मिल कर अपनी कार्यसिद्धि के लिए माँग कर ले गए।

हिमवान ने लोक को पवित्र करनेवाली और स्वच्छन्द गतिशाली गंगा को त्रैलोक्य-कल्याण के लिए, अपना धर्म समझ कर दे दिया।

हे रघुनन्दन! हिमाचल की द्वितीय पुत्री तपोधना उमा ने उग्र तप किया।

कठिन तप करनेवाली लोकवन्दिता कन्या उमा को शैलश्रेष्ठ हिमाचल ने रुद्र (महादेव) को जो अप्रतिम (उपयुक्त वर) थे, विवाह में दे दिया।

नगेन्द्र की पुत्री रम्य, पुण्यसलिलवाहिनी देवलोक को जानेवाली नदी देवनदी गंगा है।

ततो हैमवती ज्येष्ठा सर्वलोकनमस्कृता।
तदा सरिन्महद्रूप कृत्वा वेग च दुसहम्॥
आकाशादपतद्राम शिवे शिवशिरस्युत।
अचि तयच्च सा देवी गङ्गा परम दुधरा॥
विशाम्यह् हि पाताल स्रोतसा गृह्य शकरम्।
तस्यावलेपन ज्ञात्वा क्रुद्धस्तु भगवान्हर॥
तिरोभावयितु बुद्धि चक्रे त्रिनयनस्तदा।
सा तस्मि पतिता पुण्या पुण्ये रुद्रस्य मूर्धनि॥
हिमवत्प्रतिमे राम जटामण्डल - गह्वरे।
सा कथचि मही गन्तु नाशक्नोद्यत्नमास्थिता॥

विससज ततो गङ्गा हरो विदुसर प्रति।
तस्या विसृज्यमानाया सप्त स्रोतासि जज्ञिरे॥
ह्लादिनी पावनी चैव नलिनी च तथाऽपरा।
तिस्र प्राची दिश जग्मुगङ्गा शिवजला शुभा॥
सुचक्षुश्चैव। सीताच सिधुश्चैव महानदी।
तिस्रस्त्वेता दिश जग्मु प्रतीची तु शुभोदक॥
सप्तमी चावगात्तासा भगीरथमथो नृपम्।
भगीरथोऽपि राजर्षिदिव्य स्यदनमास्थित॥
व्यसपत जल तत्र तीव्रशब्दपुरस्कृतम्।
मत्स्य - कच्छपसघैश्च शिशुमारगणैस्तथा॥
शतादित्यमिवाभाति गगन गततोयदम्।
शिशुमारोरगगणर्मीनैरपि च चञ्चलै॥
विद्युद्भिरिव विक्षिप्तमाकाशमभवत्तदा।
पाण्डुरै सलिलोत्पीडै कीयमाणै सहस्रधा॥
शारदाभ्रैरिवाकीण गगन हससम्लवै।
क्वचिद् द्रुततर याति कुटिल क्वचिदायतम्॥
विनत क्वचिदुद्भूत क्वचिद्याति शनै शनै।
सलिलेनैव सलिल क्वचिदभ्याहत पुन॥
मुहुरूर्ध्वपथ गत्वा पपात वसुधातलम्।
व्यरोचत तदा तोय निमल गतकल्मषम्॥

तब सवलोकवन्दिता ज्येष्ठा हैमवती गगा महद्रूप धारण कर दु सह वेग के साथ आकाश से शिव के मस्तक पर गिरी। गिरते समय परम दुधर देवी गगा ने सोचा कि

मैं अपने प्रवाह के साथ बहा कर शिव को पाताल ले जाऊँगी। गगा के गर्व को जान कर भगवान् शिव क्रुद्ध हुए और उन्हे अपनी जटा मे ही तिरोहित करने का विचार किया।

हिमाचल के समान शिव के पवित्र मस्तक की जटामण्डल रूपी गुफा मे पुण्यतोया गगा गिरीं और अनेक प्रयत्न करने पर भी जटाजूट से निकल कर पृथ्वी पर न जा सकीं।

तब शिव ने गगा को हिमालय स्थित बिन्दुसर म छोडा। छोडते ही गगा की सात धारायें हो गईं।

ह्लादिनी पावनी और नलनी गगा की ये तीन कल्याणकारिणी धारायें उस सर से पूर्व की ओर बहीं। गगा के शुभ जल की सुचक्षु, सीता और सिन्धु नामक धारायें पश्चिम की ओर बहा।

सातवीं धारा दिव्य रथारूढ राजर्षि भगीरथ के रथ का अनुसरण करने लगी।

तीव्र शब्द करता हुआ और अपने प्रवाह मे मत्स्य, कच्छप शिशुमार (मूस) आदि को बहाता हुआ गगा का जल वेग से पृथ्वी पर (आकाश से) गिर कर प्रवाहित हुआ।

निमल मेघशून्य आकाश ऐसा शोभित हो रहा था मानो उसम सैकडा सूय उदित हो गए हों। बीच बीच मे चचल मत्स्य उग्र शिशुमार आदि जल जीवो के झुड जो

जल के वेग से ऊपर उछल जाते थे, ऐसे जान पडते थे मानो आकाश मे बिजली चमक रही हो। जल म उठे हुए श्वेत फेन जो इधर उधर सहस्रधा छितरा गए थ, ऐसे जान पडते थे मानो हसो के झुड से युक्त शरद्कालीन मेघ आकाश को शोभित कर रहे हैं।

गगा का जल कहीं द्रुतगति से, कही कुटिल गति से, कही फल कर, कही निम्न, कहा उछलता हुआ और कहा धीरे धीरे बह रहा था। कहीं जल जल से ही टकरा कर बार बार ऊपर उछलता और फिर पृथ्वी पर गिर पडता था। इस प्रकार वह स्वच्छ पुण्य जलराशि शोभित हो रही थी।

—बालकाण्ड

•

नगोत्तम

आरिराधयिषुर्गंगां तपसा दग्धकिल्बिषः ।
सोऽपश्यत् नरश्रेष्ठ हिमवन्तं नगोत्तमम् ॥

हे नरश्रेष्ठ ! तप द्वारा विगतपाप होकर गंगा की आराधना की इच्छा से उसने पर्वतों में उत्तम हिमालय को देखा।

शृंगैर्बहुविधाकारैः धातुमद्भिरलङ्कृतम् ।
पवनालम्बिभिर्मेघैः परिषिक्तं समन्ततः ।

वह पर्वत धातुओं से युक्त विविध आकारवाले शृंगों से अलंकृत और पवन से चंचल मेघों से सब ओर से परिषिक्त (भीगा हुआ) था।

शकुनैश्च विचित्राङ्गैः कूजद्भिर्विविधागिरः ।
भृङ्गराजैस्तथा हंसैः दात्यूहजलकुक्कुटैः ॥
मयूरैः शतपत्रैश्च जीवञ्जीवककोकिलैः ।
चकोरैरसितापाङ्गैः स्तथापुत्रप्रियैरपि ॥

वह विचित्र अंगोंवाले विविध ध्वनियों में कलरव करनेवाले पक्षियों से शोभित और भृंगराज, हंस, सारस, जलकुक्कुट, मयूर, शतपत्र, कोकिल, चकोर असितापांग और पुत्रप्रिय आदि के शब्दों से मुखरित था।

जलस्थानेषु रम्येषु पद्मिनीभिश्चसंकुलम् ।
सारसानां च मधुरैर्व्याहृतैः समलङ्कृतम् ॥

उसके रम्य जलाशय कमलों से भरे हुए और सारसों के मधुर रव से शोभित थे।

किन्नरैरप्सरोभिश्च निषेवितशिलातलम् ।
दिग्वारण - विषाणाग्रैः समन्ताद् घृष्टपादपम् ॥

उसके शिलातल किन्नर और अप्सराओं से सेवित हैं और उसके वृक्ष दिग्गजों के दाँतों से छिल गए थे।

क्वचित्काननसंकाशं क्वचिद्रजतसंनिभम् ।
क्वचिदञ्जनपुञ्जाभं हिमवन्तमुपागमत् ॥

जो कहीं कान्तार-संकुल था, कहीं चाँदी के वर्ण के समान रजताभ और कहीं अंजन के समान श्याम दिखाई देता था, उस पर्वत पर वह पहुँचा।

अवेक्ष्यमाणः कैलाशं मैनाकं चैव पर्वतम्।
गन्धमादनपादाश्च श्वेतं चापि शिलोच्चयम्॥

वे कैलाश तथा मैनाक पर्वतों और गन्धमादन के प्रत्यन्त भागों एवं श्वेत शिलोच्च (श्वेत पर्वत) को

उपर्युपरि शैलस्य वह्वीश्च सरितः शिवाः।
पृष्ठं हिमवतः पुण्यं ययौ सप्तदशेऽहनि॥

तथा पर्वत के ऊपर ऊपर बहने वाली बहुत सी कल्याणकर नदियों को देखते हुए सत्रहवें दिन हिमवान के पवित्र पृष्ठ भाग पर पहुँचे।

ददृशुः पाण्डवा राजन् गन्धमादनमन्तिकात्।
पृष्ठे हिमवतः पुण्ये नाना द्रुमलतावृते॥

हे राजन्! पाण्डवों ने हिमवान के विविध द्रुमलतावृत पुण्य पृष्ठदेश से गन्धमादन और

सलिलावर्तसंजातैः पुष्पितैश्च महीरुहैः।
समावृतं पुण्यतममाश्रमं वृषपर्वणः॥

जलावर्त निर्मित पुष्पित वृक्षों से घिरे हुए वृषपर्वा के पवित्रतम आश्रम को देखा।

नित्यं पुष्पफलैर्वृक्षैः हिमसंस्पर्शकोमलैः।
उपेतान् बहुभिः सच्छायैर्मनोनयननन्दनैः॥

वह हिमवान सदा फूलने फलने वाले और हिम के संस्पर्श के कारण कोमल, मन और नेत्रों को आनन्द देनेवाले सुन्दर छायावान वृक्षों से युक्त था।

स संपश्यन् गिरिनदीं वैदूर्यमणिसंनिभैः।
सलिलैर्हिमसंकाशैः हंसकारण्डवायुतैः॥

हंस-कारण्डव पक्षियों से शोभित वैदूर्य मणि की आभावाले और हिम जैसे जल वाली पर्वतीय नदियों को देखा।

वनानि देवदारूणां मेघानामिव वागुराः।
हरिचन्दनमिश्राणि तुङ्गकालीयकान्यपि॥

वहाँ हरिचन्दन तथा ऊँचे ऊँचे अगरु वृक्षों से युक्त देवदारु के वन ऐसे लगते थे मानो मेघों के लिए जाल हों।

—वन पर्व

•

हिमालय

अस्त्युत्तरस्या दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराज ।
पूर्वापरौ तोयनिधीवगाह्य स्थित पृथिव्या इव मानदण्ड ॥१॥

य सव शैला परिकल्प्य वत्स मेरौ स्थिते दोग्धरि दोहदक्षे।
भास्वन्ति रत्नानि महोषधीश्च पृथूपदिष्टा दुदुहुर्धरित्रीम् ॥२॥

अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य हिम न सौभाग्यविलोपि जातम्।
एकोहि दोषो गुणसनिपाते निमज्जतीन्दो किरणेष्विवाङ्क ॥३॥

यश्चाप्सरोविभ्रममण्डनाना सपादयित्री शिखरैर्बिभर्ति।
बलाहकच्छेदविभक्तरागामकालसन्ध्यामिव धातुमत्ताम् ॥४॥

आमेखल सचरता घनाना छायामध सानुगता निषेव्य।
उद्वेजिता वृष्टिभिराश्रयन्ते शृगाणि यस्यातपवन्ति सिद्धा ॥५॥

पद तुषारस्रुति धौतरक्त यस्मिनदृष्ट्वापि हतद्विपानाम्।
विदन्ति मार्ग नखरन्ध्रमुक्तैर्मुक्ताफलै केसरिणा किराता ॥६॥

न्यस्ताक्षरा धातुरसेन यत्र भूर्जत्वच कुञ्जरबिन्दुशोणा ।
व्रजन्ति विद्याधरसुन्दरीणामनङ्गलेखक्रियोपयोगम् ॥७॥

पूव और पश्चिम सागर तक
भू के मानदण्ड सा विस्तृत,
उत्तर दिशि में दिव्य हिमालय
गिरियो का अधिपति है शोभित।

पृथु प्रेरित शैलो ने जिसको
पृथ्वी-गो का वत्स बनाकर,
मेरु-गोप से दुहा लिया सब
ओषधियो रत्नो का आकर।

रत्नो के आकर हिमगिरि की
हिम से हुइ न शोभा कुण्ठित,
किरणो में कलक सा छिपता
गुण-ममूह में अवगुण किंचित्।

गैरिक पीत धातु-शृगो से
वह रँगता घन-खण्डो को जब,
अप्सरियाँ मण्डन करती है
असमय सध्या के भ्रम से तब।

उनत शृगो की रशना मम
मेघो की छाया में रह कर,
जाते, वर्षाभीत सिद्धजन
आतपमय शिखरो के ऊपर।

गजघाती सिंहा के, जाते
पद जहा हिमधारा से घुल,
नख से बिखरी गजमुक्ता से
दिशि-इगित पाता किरात-दल।

गज-शुण्डो पर लाल विदु से
अकित जिन पर लगते अक्षर,
विद्याधर - सुदरिया लिखती
प्रेम-पत्रिका भोजपत्र पर।

य पूरयन्कीचकरन्ध्र - भागान्दरीमुखोत्थेन समीरणेन।
उद्गास्यतामिच्छति किन्नराणा तानप्रदायित्वमिवोपगन्तुम् ॥८॥

कपोलकण्डू करिभिर्विनेतु विघट्टिताना सरलद्रुमाणाम।
यत्र स्रुतक्षीरतया प्रसूत सानूनि गन्ध सुरभीकरोति ॥९॥

दिवाकराद्रक्षति यो गुहासु लीन दिवाभीतमिवान्धकारम्।
क्षुद्रेऽपि नून शरण प्रपन्ने ममत्वमुच्चै शिरसा सतीव ॥१०॥

लाङ्गूलविक्षेपविसर्पि - शोभैरितस्ततश्चन्द्र - मरीचिगौरै।
यस्यार्थयुक्त गिरिराजशब्द कुर्वन्ति वालव्यजनैश्चमर्य ॥११॥

भागीरथीनिर्झरसीकराणा वोढा मुहु कम्पितदेवदारु।
यद्वायुरन्विष्टमृगै किरातैरासेव्यते भिन्नशिखण्डिबर्ह ॥१२॥

सप्तर्षिहस्तावचितावशेषाण्यधो विवस्वान्परिवर्तमान।
पद्मानि यस्याग्रसरोरुहाणि प्रबोधयत्यूर्ध्वमुखैर्मयूखै ॥१३॥

यज्ञाङ्गयोनित्वमवेक्ष्य यस्य सार धरित्रीधरणक्षम च।
प्रजापति कल्पितयज्ञभाग शैलाधिपत्य स्वयमन्वतिष्ठत् ॥१४॥

—कालिदास

गुहामुखों से उठकर मारुत
करता वेणु-रन्ध्र सब सस्वर।
साथ दे रहा ज्यों गीतों का
गाते जिन्हें तार स्वर किन्नर।
जब मस्तक खुजलाते हैं गज,
देवदारु से संघर्षण - रत,
उनसे बह कर क्षीर सुरभिमय
कर देता शिखरों को शोभित।
दिवाभीत सा आश्रय पाता
रवि से दूर, गुहा में घनतम,
शरणागत क्षुद्रों को ममता
देते हैं महान, सज्जन सम।
चलती हैं चमरी गौयें भी
चन्द्रोज्ज्वल पूँछें चंचल कर,
पर्वतराज नाम को सार्थक
करती मानो चमर डुला कर।
गंगा - जल - कण - वाहक मारुत
बहता देवदारु कम्पित कर,
फहराता मयूर - पंखों को
मृगयारत किरात का श्रमहर।
उच्च सरों से लेने आते
नित सप्तर्षि कमल अर्चनहित,
शेष कंज - दल जहाँ खिलाता
रवि अपनी किरणें कर उन्नत।
देव यज्ञ - सामग्री का घर
उसे धरा - धारण में सक्षम,
विधि ने उसे यज्ञभागी कर
दिया नगाधिप का पद उत्तम।

—अनु० महादेवी

प्रालेयाद्रेरुपतटमतिक्रम्य तास्तान्विशेषा-
न्हंसद्वारं भृगुपतियशोवर्त्म यत्क्रौञ्चरन्ध्रम्।

गत्वाचोर्ध्वं दशमुखभुजोच्छ्वासितप्रस्थसन्धे
कैलासस्य त्रिदशवनितादर्पणस्यातिथि स्या।

शृगोच्छ्रायैः कुमुदविशदैर्यो वितत्यस्थितः
ख राशीभूत प्रतिदिनमिव त्र्यम्बकस्याट्टहास ।।

—कालिदास

हिमालय के आस पास जितने रम्य स्थल हैं, उन सबको देखते हुए तुम उस क्रौंचरन्ध्र में से उत्तर की ओर जाना जिसमें से होकर हंस मानसरोवर की ओर जाते हैं और जिसे परशुराम ने (अपने बाणों से वेध कर) अपने यश का मार्ग सा बना दिया है।

वहां से ऊँचे उठकर तुम उस कैलाश पर्वत पर पहुँच जाओगे, जिसके शिखरों की प्रस्थ संधियां (जोड़) रावण की भुजाओं से (कैलास उठा लेने के कारण) हिल चुकी हैं, जिसकी स्वच्छ हिमशिलाओं के कारण देवांगनायें उसमें (दर्पण के समान) अपने मुख देखा करती हैं और जिसकी कुमुद पुष्पों के समान उज्ज्वल चोटियां आकाश में ऐसे फैली हुई हैं, मानो वह दिन प्रतिदिन एकत्र होता हुआ शिव का अट्टहास हो।

—पूर्वमेघ, ६० ६२

•

हिमालय

तपनमण्डलदीपितमेकत   सततनैशतमोवृतमन्यत ।
हसितभिन्नतमिस्रचयं पुरः शिवमिवानुगतं गजचर्मणा ॥१॥

यह हिमवान एक ओर सूर्यकिरणों से आलोकित और दूसरी ओर सर्वदा रात्रि के अन्धकार से आच्छन्न रहता है। ऐसा जान पड़ता है मानो सामने हास से उज्ज्वल और पृष्ठ भाग में गज चर्मावृत होने के कारण श्यामल शिव हो।

भुजगराजसितेन नभःश्रिता कनकराजिविराजितसानुना।
समुदितं निचयेन तडित्वतीं लघयता शरदम्बुदसंहतिम् ॥२॥

(इसके) शेष नाग के समान श्वेत तथा स्वर्णरेखाओं से खचित, गगन को स्पर्श करते हुए से शिखर, विद्युत् से युक्त शरत्कालीन बादलों को लज्जित करते हैं।

मणिमयूखचयांशुकभासुराः   सुरवधूपरिभुक्तलतागृहाः ।
दधतमुच्चशिलान्तरगोपुराः पुरः इवोदितपुष्पवनाभुवः ॥३॥

यह उन नगर-सदृश भू भागों को धारण करता है, जिनमें सुरांगनायें लताकुञ्जों का गृह के समान उपयोग करती हैं जिनकी विशाल और ऊँची शिलायें पुर-द्वारों के समान हैं जिनमें फूलों के वन ही उद्यान हैं और मणियों की दीप्ति की किरणें ही सुन्दर अंशुक हैं।

अविरतोज्झितवारिविपाण्डुभिर्विरहितैरचिरद्युतितेजसा।
उदितपक्षमिवारतनिस्वनैः पृथुनितम्बविलम्बिभिरम्बुदैः ॥४॥

निरन्तर बरसते रहने के कारण जो मेघ पाण्डु वर्ण के हो गए हैं और जिनमें न अब गर्जन रव है और न विद्युत की चमक वे हिमालय के उन्नत शिखरों के दोनों ओर ऐसे लटक रहे हैं मानो पवन के पंख निकल आये हैं।

दधतमाकरिभि करिभि क्षतैं समवतारसमैरसमैस्तटैं ।
विविध कामहिता महिताम्भम स्फुट सरोजवना जवना नदी ॥५॥

गजा के अवगाहन से क्षत, अतएव अवतरण मार्गों म कही सम और कही विषम तटा वाली, श्लाघनीय जलवाली स्नानादि विविध कार्यों के लिए उपयोगी और खिले हुए कमला वाली वेगवती नदिया को हिमवान धारण किये हुए है।

नवविनिद्रजपाकुसुमत्विषा द्युतिमता निकरेण महाश्मनाम् ।
विहितसान्ध्यमयूखमिव क्वचिन्निचितकाञ्चनभित्तिपु सानुपु ॥६॥

नव विकसित जपा (गुडहल) पुष्पा की सी आभावाली पद्मराग मणियो के दीप्तिमान समूह के कारण हिमालय के सौवर्ण शिला सघटित शिखर ऐसे शोभित होते हैं मानो उन पर सन्ध्या आविर्भूत हो गई हो।

पृथुकदम्बकदम्बकराजित ग्रथितमालतमालवनाकुलम् ।
लघु तुषारतुषारजलश्च्युत धृतमदानसदाननदन्तिनम् ॥७॥

यह बडे बडे नील कुसुमा के वना से, सघन पंक्ति वाले तमाल वृक्षों से, तुषार जल शीकरा के वपण से तथा मदस्रावी सुन्दर हाथिया से शामित हो रहा है।

रहितरत्नचयान शिलोच्चयानपलतामवना न दरी भुव ।
विपुलिनाम्बुरुहा न सरिद्वधूरकुसुमा दधत न महीरुह ॥८॥

हिमालय के शिलासमूह रत्ना से शून्य नहीं हैं, उसके गुहा प्रदेश लतागृहों से रहित नहीं हैं, उसकी नदिया के तट कमल शून्य नहीं हैं और उसके वृक्ष और वनस्पतिया पुष्पभार रहित नहीं हैं।

ग्रहविमानगणानभितो दिव ज्वलयतौषधिजेन कृशानुना।
मुहुरनुस्मरवन्तमनुक्षप त्रिपुरदाहमुमापति सेविन ॥९॥

आकाश में चतुर्दिक ग्रहो और देवयाना का दीपित करती हुई, औषधियों से उद्भूत अग्नि द्वारा मानो हिमालय शिवगणा को प्रतिरात्रि त्रिपुर दाह का स्मरण कराता है।

विततशीकरराशिभिरुच्छ्रितैरुपलरोधविवर्तिभिरम्बुभि ।
दधतमुनत सानु समुद्धता धृतसितव्यजनामिव जाह्नवीम् ॥१०॥

हिमालय के उन्नत शिखरो से उद्भूत गगा शिलाखण्डो पर रुद्ध होकर ऊँचे उठती और फलती हुई शीकरराशि के कारण ऐसी शोभित होती है, मानो वह श्वेत चामर लिए हुए हो।

—भारवि

हिमवान

जब तें उमा सैल गृह आइं।
सकल सिद्धि सम्पति तँह छाईं।।
जहँ तहँ मुनिन्ह सुआश्रम कीन्हे।
उचित बास हिम भूधर दीन्हें।।

सदा सुमन फल सहित सब द्रुम नव नाना जाति।
प्रगटी सुन्दर सैल पर मनि आकर बहु भाँति।

सरिता सब पुनीत जल बहहीं।
खग मृग मधुप सुखी सब रहहीं।
सहज बयर सब जीवन्ह त्यागा।
गिरि पर सकल करहिं अनुरागा।।

निज कर डासि नागरिपु छाला।
बैठे सहजहिं शम्भु कृपाला।।
कुन्द इन्दु सम गौर सरीरा।
भुज प्रलम्ब परिधन मुनि चीरा।।
तरुन अरुन अंबुज सम चरना।
नख दुति भगत हृदय तम हरना।।
भुजग भूति भूषण त्रिपुरारी।
आननु सरद चन्द छबिहारी।।

जटा मुकुट सुरसरित सिर लोचन नलिन बिसाल।
नीलकंठ लावयनिधि सोह बाल बिधु भाल।।

—गो० तुलसीदास

विरत हो गये तुम ऐसे, इसीलिए आज सर्वांग
तुम्हें घेरे श्यामल पादप फूलो से खिले हैं
वनस्पतिया शत - शत वर्षाओ की सुखवर्षिणी
कविताएँ अपने पत्र-पुजो पर, वल्कलो- शैवाला
और जटाओ पर लिख रही ह, तुम्हारे सुदुगम
शिखर निभय विहगावलियो के मधुर कल्लोलो से
मुखरित है, तुम्हारे वक्षपट के विस्तार में
नदियो के सग - सग कोटि - कोटि नरनारी
कुटियाएँ बाध रहे निभय निशक हो
(याद है वह दिन) जब तुम हे अग्निगिरि!
व्योम की स्पर्धा में कपित भूमडल से
तेज-तुल्य उठे थे चन्द्र सूय ग्रसने को
उस दिन प्रलय ही तुम्हारा एक साथी था
(और) जब तुम 'और नही, और नही' कहकर
रुक गये, चतुर्दिक् से वर्षा हुइ सुखमय आस्था की
तुम पर तुमसे ही आस्था को विस्तार मिला जैसे।

× × ×

मानो अनिवचनीय आनद के अव्यक्त आवेग में
आलोक पानकर उदास दक्षिण पवन से
गगन पर भारत - सिधु वाष्पोच्छ्वास फेंकता।
हे ऊर्ध्वबाहु नगराज! उद्वाहित मेघ
तुम्हारे ही गिखरा में, छायाच्छन्न गुफाओ में
वदी है प्रत्यावर्तित करोगे तुम ही उन्हे
अनत जिज्ञासा-रत सागर के हृदय में
देकर उस मेघ को आनद नव, प्राण नव—
वैसे ही, जैसे इतनी अवधि से ऊर्ध्वमुख

भारत का हृदय - सिन्धु चिर विशाल वाणी उदघोषता
अनन्त के ज्योतिम्पथ से अनन्त को सौंप चुका है
हे हिमाद्रि! तुम्हारे स्तब्ध शिर में वह संचित है
इसी हेतु तुम्हारे मौन शृंगो में खोजता फिरता
हूँ शान्त - शिव - अद्वैत के संग भारत का परिचय।

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

अनु० प्रबोधकुमार मजूमदार

परवत वो सबसे ऊँचा, हमसाया आसमाँ का
वह सन्तरी हमारा, वह पासबा हमारा

गोदी में खेलती हैं इसकी हजारो नदियाँ
गुलशन है जिनके दम से रश्के जिनाँ[1] हमारा

---

१ ऐसा कि जिससे स्वर्ग को भी ईर्ष्या हो

हिमालय

ए हिमाला! ए फ़सीले - किश्वरे - हिंदोस्ताँ!
चूमता है तेरी पेशानी को झुक कर आसमाँ!
तुझमें कुछ पैदा नहीं देरीना - रोज़ी के निशाँ!
तू जवाँ है गर्दिशे - शामो - सहर के दर्मियाँ!

एक जल्वा था कलीमे - तूरे - सीना के लिए!
तू तजल्ली है सरापा चश्मे - बीना के लिए!

इम्तहाने - दीदए - ज़ाहिर में कोहिस्ताँ है तू,
पासबाँ अपना है तू, दीवारे - हिन्दुस्ताँ है तू!
मतलए - औवल फ़लक जिसका हो वो दीवाँ तू,
सूए-ख़िल्वतगाहे दिल दामनकशे-इन्साँ है तू!

बर्फ़ ने बाँधी है दस्तारे - फ़ज़ीलत तेरे सर,
ख़ंदाज़न है जो कुलाहे - मेहरे - आल्मताब पर!

फ़सील, दीवार। किश्वर, देश। पेशानी, माथा। पैदा नहीं, प्रकट नहीं। देरीना रोज़ी, वृद्धता। कलीम, हज़रत मूसा, जिन्होंने तूरे-सीना पर्वत पर ईश्वर की परम ज्योति का दर्शन किया था। तजल्ली, ज्योति, जलवा। सरापा, सम्पूर्णतया। चश्मे-बीना, देखने वाली (तत्व-द्रष्टा) आँख। इम्तहाने-दीदए ज़ाहिर में, बाह्य रूप की परीक्षा करने वाली दृष्टि। कोहिस्ताँ, पहाड़। पासबाँ, चौकसी रखने वाला। मतलए-औवल, ग़ज़ल या क़सीदा ('प्रशस्ति-काव्य') का पहला शेर। फ़लक, व्योम। दीवान, काव्य-संग्रह। सूए ख़िलवतगाहे दिल, हृदय के अंतरंग की ओर। दामनकशे-इन्साँ, मानव मात्र का दामन खींचने वाला। दस्तारे-फ़ज़ीलत, श्रेष्ठ सम्मान की पगड़ी। ख़ंदाज़न है, हँसती है। कुलाहे मेहरे-आल्मताब, विश्व को ज्योतित प्रकाशित करने वाले सूर्य का टोपी (या ताज)।

तेरी उम्रे - रफ्ता की एक आन है अहदे - कुहन,
वादियों में है तेरी काली घटाए खेमाजन।
चोटियां तेरी सुरैया से हैं सरगर्मे - सखुन
तू जमीं पर, और पहनाए - फलक तेरा वतन!

चश्मए - दामन तेरा आईनए - सैयाल है,
दामने - मौजे - हवा जिसके लिए रूमाल है!

अब्र के हाथों में रहवारे - हवा के वास्ते
ताजियाना दे दिया बर्के - सरे - कुहसार ने!
ए हिमाला! कोइ बाजीगाह है तू भी, जिसे
दस्ते - कुदरत ने बनाया है अनासर के लिए?

हाय, क्या फर्ते - तरब में झूमता जाता है अब्र!
फीले - बेजंजीर की सूरत उडा जाता है अब्र!

जुंबिशे - मौजे - नसीमे - सुबह गहवारा बनी
झूमती है नशए - मस्ती में हर गुल की कली!
यों जबाने - बर्ग से गोया है उसकी खामुशी।
'दस्ते - गुलचीं की झटक मैने नहीं देखी कभी!'

कह रही है 'मेरी खामोशी ही है अफसाना मेरा!
कुंजे - खिल्वतखानए - कुदरत है काशाना मेरा!'

उम्रे रफ्ता, गत जीवन या आयु। आन, क्षण मात्र। अहदे-कुहन, प्राचीन युग। सुरय्या, कृत्तिका मंडल। सरगर्मे-सखुन, वार्तालाप में लीन। पहनाए-फलक, आकाश का विस्तार। चश्मा, झरना। आईनए-सयाल, प्रवाहमय दर्पण। अब्र, बादल। रहवार, घोडा। ताजियाना, कोडा। बर्क, बिजली। कुहसार, पहाड। बाजीगाह, क्रीडास्थल। दस्ते-कुदरत ने, प्रकृति के हाथ ने। अनासिर पंचभूत। फर्ते-तरब में, खूब मस्ती में। फील, हाथी। नसीम, सुबह की नम और भीनी हवा। गहवारा, पालना, झूला। जबाने बर्ग से, पंखडी रूपी मुख से। गोया है बोल रही है। दस्ते-गुलचीं, फूल तोड लेने वाले के हाथ। कुंजे खिल्वतखानए-कुदरत, प्रकृति के एकान्त का कोना। काशाना, घर।

आती है नद्दी फराजे - कोह से गाती हुई,
कौसर् - आ - तस्नीम की मौजो को शर्माती हुइ।
आइना - सा शाहिदे - कुदरत को दिखलाती हुई,
सगे - रह से गाह बचती, गाह टकराती हुइ।
छेडती जा इस इराके - दिलनशी के साज को
ए मुसाफिर, दिल समझता है तेरी आवाज को।

लैलिए - शब खोल्ती है आ के जब जुल्फे - रसा,
दामने - दिल खीचती है आबशारो की सदा।
वह खमोशी शाम की, जिस पर तकल्लुम हो फिदा।
वह दरख्तो पर तफक्कुर का समाँ छाया हुआ।
काँपता फिरता है क्या रगे - शफक कुहसार पर।
खुशनुमा लगता है यह गाजा तेरे रुख्सार पर।

ए हिमाला! दास्ता उस वक्त की कोइ सुना,
मस्कने - आबाए - इसाँ जब बना दामन तेरा।
कुछ बता उस सीधी - सादी जिन्दगी का माजरा,
दाग जिस पर गाज़ए - रगे - तकल्लुफ का न था।
हा, दिखा दे, ए तसौवुर, फिर वो सुबहो-शाम तू।
दौड पीछे की तरफ, ए गर्दिशे - ऐय्याम, तू।

—इकबाल

फराजे-कोह स, पहाड की ऊँचाइया से। कौसर, तस्नीम, जन्नत (स्वग) की दो नहरा क नाम हैं। शाहिदे-कुदरत, प्रकृति-रूपी सुदरा प्रेयसी। सगे रह, राह के रोडे, पत्थर। गाह कभी। इराक, एक राग का नाम जो सुबह लगभग ८९ बजे गाया जाता है। दिल-नशीं, हृदय मे बसा हुआ। ललिए-शब, रात्रि-रूपी लला। जुल्फ रसा, लम्बे बाल। आबशार, झरने। सदा, आवाज। तकल्लुम, वाणी। तफक्कुर, चिंतन। शफक, सुबह या शाम की लाली। गाजा, पराग, पौडर। रुख्सार, गाल। मस्कन, रहने की जगह। आबाए-इसा, आदि मानव पूवज। तसौवुर, कल्पना। ए गर्दिशे-ऐय्याम, ए समय के चक्र।

जयगान

हम करेंगे आज भारत देश का
जयगान !
द्वेष-दुख का अन्त होगा,
अब न त्रास दुरन्त होगा,
आज फहरेगा हमारा
एक विजय निशान !
हम करेंगे आज भारतवर्ष का
जयगान !
यश का गान !

रजत श्रृंग तुषारशेखर,
तुंग यह हिमवान गिरिवर,
हम यहां निर्द्वन्द होकर
बनेंगे गतिवान !
हम करेंगे आज भारतभूमि का
जयगान !
यश का गान !

पोत-दल शत शत तरेंगे,
पश्चिमी सागर भरेंगे,
गर्जना में ध्वनित होगा
देश - गौरव - मान !
हम करेंगे आज भारतवर्ष का
जयगान !
यश का गान !

वनें विद्याभवन शोभन,
देवमन्दिर से सुपावन,
हम कहेंगे देश भारत
ज्ञानवृद्ध महान।
हम करेंगे आज भारत देश का
जयगान।
यश का गान।

—सुब्रह्मण्यम भारती
अनु० महादेवी

अयि जननी तेरा वन्दन है!
चिर वरेण्य तेरा वन्दन है!

सिन्धु तरगें तेरी अनुचर,
सुन्दर चरणो में पहनाती
ये रजताभ फेन के नूपुर,
पर उनको सन्तोष न होता,
पहनाती उतारती फिर फिर,
कहती 'हे माता वन्दन है,
हे अनुपम हे चिर सुहागिनी
जननी तेरा अभिनन्दन है।'

चिर वरेण्य तेरा वन्दन है।

यह वारिद चल विद्युत्वाला,
घन गर्जन के पटह बजाता
बनता स्वर्णिम दीपक माला।
इन्द्रधनुष-तोरण वर्षोत्सव,
यह अनुपम भृगु-क्षेत्र निराला।
मातृभूमि तेरा वन्दन है!
शस्यधरा अयि अन्नपूर्णा
माता तेरा अभिनन्दन है!

चिर वरेण्य तेरा वन्दन है।

मलयपवन से खेल खेल कर,
विजय-वैजयन्ती सी शोभित,
शीश डुलाती गिरि शिखरा पर,
ये एला वल्लरियाँ तेरा

सौरभ फैलाती न कहाँ पर?
जन-जननी तेरा वन्दन है।
हे अनुपम हे गुण-गणग्राहक
माता तेरा अभिनन्दन है।

चिर वरेण्य तेरा वन्दन है।

बन्धु-स्नेह-डोरे में कोमल
भाँति भाँति के सुमन गूँथ हम
माला एक बना लें प्रेमिल।
माता के उर पर शोभित वह
हो निवृत्तिमय, हो चिर उज्ज्वल।
स्नेहमूर्ति तेरा वन्दन है,
ओ अद्वैत-मन्त्र की ज्ञाता
माता तेरा अभिनन्दन है।

चिर वरेण्य तेरा वन्दन है।

—वल्लतोल
अनु० महादेवी

'सो सही'—ज्योंही कहा यानेश ने,
यान उतरे त्वरित ओर नगेश के।
पर्वतस्थल के निकट वह यान दल जब आ गया,
दृष्टि में वह सृष्टि का सौंदर्य दूना छा गया।
कहीं रिमझिम भरी झरनों की बहार,
है सुरभि के साथ पावस का विहार!
परम शीतल पवन भी इस भांति आती है चली,
शरद को भी प्रिय लगी मानो मनोहर में थली।
वृंद - वृंद उमंग संग विहंग हैं,
शब्द सरसीले छबीले रंग हैं।
वहीं कस्तूरी चमर-युत विविध चारु कुरंग हैं,
सिद्ध गायन के वहीं दरसे रसायन अंग हैं।
देवता का भाव व्यापक है अपार,
देव धारा! देव दारा! देवदार!
देव - ऋषियों का तपस्थल! देव-माया का विभास,
देव-देव-महेश-प्रिय! जय अचल देव प्रभा-निवास!
वाह, कैसा निर्जनत्व प्रभाव है!
शैल प कैवल्य का बस भाव है!
सत्य की - सी तर्जनी हिम-शृंग के मिस ठौर-ठौर,
ज्ञानियों को दे रही थी शुद्ध शिक्षा और और—

आप्त जन उपदेश यों देते हुए,
प्रेम से बोले—'नमः श्री शंभवे!'
यान उतरे स्थित हुए जब उस धरा छवि-रास पै,
कहा यानाधीश ने—'यह रजत गिरि कैलास है।'

—राय देवी प्रसाद 'पूर्ण'
१८६५ १९१५

वीरभोग्या वसुन्धरा

प्रथित पुरातन नाम भूमि का वसुन्धरा है,
क्योंकि विश्व-भर का इसमें सर्वस्व भरा है।
उसका परम पुनीत अंग प्रिय भरत देश है,
जिसमें वसुधा के सर्वस्व का समावेश है।

उस सर्वस्व के उपभोग के अधिकारी हैं हम सभी,
इस वसुन्धरा के वीर सुत वल्धारी हैं हम सभी।

जय जय प्यारा भारत - देश !

जय जय प्यारा, जग से न्यारा,
शोभित सारा देश हमारा,
जगत - मुकुट, जगदीश - दुलारा,

जग - सौभाग्य, सुदेश !
जय जय प्यारा भारत - देश !

प्यारा देश, जय देशेश,
अजय अशेष, सदय विशेष,
जहा न सम्भव अघ का लेश,

सम्भव केवल पुण्य - प्रवेश !
जय जय प्यारा भारत देश !

स्वर्गिक शीश - फूल पृथिवी का,
प्रेम - मूल, प्रिय लोकत्रयी का,
सुललित प्रकृति - नटी का टीका,

ज्यो निशि का राकेश।
जय जय प्यारा भारत - देश !

जय जय शुभ्र हिमाचल - श्रृगा,
कल - रव - निरत कलोलिनि गगा !
भानु - प्रताप - चमत्कृत अगा !

तेज - पुज तप - वेश !
जय जय प्यारा भारत - देश !

जग में कोटि - कोटि जुग जीवें,
जीवन-सुलभ अमी-रस पीवें,
सुखद वितान सुकृत का सीवें,

रहे स्वतन्त्र हमेश।
जय जय प्यारा भारत - देश!

—श्रीधर पाठक
१८६० १९२९

नीलाम्बर परिधान हरित पट पर सुंदर है,
सूर्य चन्द्र युग मुकुट मेखला रत्नाकर है।
नदियाँ प्रेम प्रवाह, फूल तारे मण्डन है,
बन्दी जन खगवृन्द शेष-फन सिंहासन है।
करते अभिषेक पयोद है बलिहारी इस वेष की,
हे मातृभूमि! तू सत्य ही सगुण मूर्ति सर्वेश की।

जिसकी रज में लोट लोट कर बडे हुए है,
घुटनो के बल सरक सरक कर खडे हुए है,
परम हंस सम बाल्यकाल में सब सुख पाये,
जिसके कारण धूल भरे हीरे कहलाये,
हम खेले-कूदे हर्षयुत जिसकी प्यारी गोद में,
हे मातृभूमि! तुमको निरख मग्न क्यो न हो मोद में!

पाकर तुझसे सभी सुखो को हमने भोगा,
तेरा प्रत्युपकार कभी क्या हमसे होगा?
तेरी ही यह देह तुझी से बनी हुइ है,
बस तेरे ही सुरस सार से सनी हुई है।
फिर अन्त समय तू ही इसे अचल देख अपनायगी,
हे मातृभूमि! यह अन्त में तुझमें ही मिल जायगी।

निर्मल तेरा नीर अमृत के सम उत्तम है,
शीतल मन्द सुगन्ध पवन हर लेता श्रम है।
षट् ऋतुओ का विविध दृश्ययुत अद्भुत क्रम है,
हरियाली का फर्श नही मखमल से कम है।

शुचि सुधा सींचता रात में तुझ पर चन्द्र प्रकाश है,
हे मातृभूमि! दिन में तरणि करता तम का नाश है।

सुरभित, सुन्दर, सुखद सुमन तुझ पर खिलते हैं,
भाँति भाँति के सरस सुधोपम फल मिलते हैं,
ओषधियाँ हैं प्राप्त एक से एक निराली,
खानें शोभित कहीं धातु वर रत्नों वाली।

जो आवश्यक होते हमें मिलते सभी पदार्थ हैं,
हे मातृभूमि वसुधा, धरा तेरे नाम यथार्थ हैं।

दीख रही है कहीं दूर तक शैल-श्रेणी,
कहीं घनावलि बनी हुई है तेरी वेणी।
नदियाँ पैर पखार रही हैं बनकर चेरी,
पुष्पों से तरुराजि कर रही पूजा तेरी।

मृदु मलय-वायु मानो तुझे चन्दन चारु चढ़ा रही,
हे मातृभूमि! किसका न तू सात्विक भाव बढ़ा रही!

जिस पृथिवी में मिले हमारे पूर्वज प्यारे,
उससे हे भगवान कभी हम रहें न न्यारे।
लोट लोट कर वहीं हृदय को शान्त करेंगे,
उसमें मिलते समय मृत्यु से नहीं डरेंगे।
उस मातृभूमि की धूल में जब पूरे सन जायँगे,
होकर भव-बन्धन-मुक्त हम आत्मरूप बन जायँगे।

●

देखते थे दृश्य नित्य नये नये वे,
अन्त में गिरि गधमादन को गए वे।

सहज था किसको वहाँ का पथ चलना?
घन गहन में कठिन किरणो का निकलना।

अद्रि स्वागत कर उठा हिम-हास करता,
था निसर्ग वहाँ निरन्तर वास करता।

आ गए कैसे, कहा से, कब, कहाँ वे,
आप अपने को विचित्र लगे वहा वे।

प्रकृति-पुरुष-द्रुग सा सम्मुख खडा था,
किन रहस्यो से भरा कितना वडा था!

'अनुज लगता है मुझे इस ठौर ऐसा,
मनुज का ससार है सकीण कैसा!

केश क्या निज रोम तक इसने पकाये,
काल कितने देख इसको अकचकाये।

सिद्ध योगी-सा समाधि निमग्न यह,
भूमि से उठ गगन से सलग्न है यह!

देवदार समान ऊँचे और मोटे,
वृक्ष इसके निकट छत्रक तुल्य छोटे।

मग्न से होकर जलद स्रोतस्वरो में,
मकड-जाल बने पडे ह गह्वरो में!

बाहु नभ में और पद पाताल में है,
प्रकट कटि-पट विटपियों के जाल में है।

शैलराज सहस्र शीर्षोपम बड़ा है,
वरद विभु सा अभय मुद्रा में खड़ा है।

सरस शत शत निर्झरों के नीर से है,
द्रवित-सा यह प्राण और शरीर से है।

ठौर अन्तर्बाह्य तृष्णा-शान्ति का यह,
है ठिकाना एक ही अक्लान्ति का यह।

डाल दरियों पर घटाओं की जवनिका,
सभ्य श्वापद भी बना इसकी अवनि का।

एक रव की गूँज कितने ठौर से है,
वन गई वसुधा बनी इस मौर से है।

उठ तपन को यदि न शान्त किये रहे यह,
लोक उसका तेज तो कैसे सहे वह?

शून्य भर कर यह रजत-मन्दिर बढ़ा है,
मिहिर हीरक-कलश-सा इस पर चढ़ा है।

अवनि अम्बर का यही मध्यस्थ अपना,
सुन रहा है ध्यान से हँसना विलपना।

—मैथिलीशरण गुप्त
जन्म १८८६

पा प्यारा अमरत्व,
अमर आनन्द अभय पा,
विश्व करे अभिमान,
वीर्य बल पूर्ण, विजय पा,
जागृति जीवन ज्योति
जोर से हो, तू दमके,
परम कार्य का रूप बने,
वसुधा में चमके,

तू भुजा उठा दे हे जयी!
जग चक्कर खाने लगे,
दुखिया के हिय शीतल बने,
जगतीतल हुलसाने लगें।

तेरे कन्धा चढ़े,
जगत जीवन की आशा,
तेरे बल पर बढ़े,
जाति, जागृति, अभिलाषा,
कभी रहे कटि कम
महा वारिधि तरने को
गरुड छोड़, पद चलें,
दुखी का दुख हरने को।

वह प्रेम सूत्र में गुंथ रहा,
दुखियों के मन का हार है,
वसुधा का बल सचार हो,
श्री चरणों का उपहार है।

आ, आहा! यह दिव्य
देश दर्शन दिखला, आ!
उलट पलट के विकट
कर्म कौशल सिखला, आ!

'जय हो' यह हुंकार
हृदय दहलाने वाली!
काँप उठी उस
वन प्रदेश की डाली डाली!

ले, श्री मनुष्यता मत्त हो
विजय ध्वनि आराधे खडी,
श्री प्रकृति प्रेम पाली बनी
वीणा के स्वर साधे खडी।

आहा! पन्द्रह कोटि
हार ले, आये आली,
जगमग जगमग हुई
कोटि पन्द्रह ये थाली,
अर्घ्य दान के लिए
हिमालय आगे आये,
रत्नाकर ये खडे,
धुलें श्री चरण सुहाये!

यह हरा हरा भावो भरा
कर्मस्थल स्वीकार हो,
नवजीवन का सचार हो, क्यो हो?
कृति हो, हुकार हो।

—माखनलाल चतुर्वेदी
जन्म १८८८

लम्बे सीधे सघन इकट्ठे
    विविध विटप अवली से शोभित,
चिडियो की चह चह से जाग्रत
    झरनो से दिन रात निनादित,

पवत की उपत्यका में है
    कितना सुख ! कितना आवपण !
शान्ति स्वस्थता बाँट रहा है
    सतत जहाँ का एक एक क्षण।

वही वही दूर्वादल शोभित
    कोमल समतल विशद धरा पर,
कस्तूरी मग ने चर-चर कर
    जिसको है कर दिया बराबर,

वठ प्रिया की मधुर गिरा में
    उसके अन्तस्तल का सुदर,
चित्र देख कर म करता हूँ
    उम पर निज सवस्व निछावर।

पवत शिखरो का हिम गलकर
    जल बनकर नालो में आकर,
छोटे बडे चीकने अगणित
    शिला-समूहो से टकरा कर,

गिरता, उठता फेन बहाता
    करता अति कोलाहल 'हर हर',
वीर-वाहिनी की गति से वह
    बहता रहता है निशि वासर।

मानो जल्दा के शिशुगण, दल
बाँध खेल्ते हुए परस्पर,
अति उतावलेपन से चल्कर
गोल पत्थरा पर गिर-गिर कर,

उठ्ते करते नृत्य विहँसते
तथा मनाते हुए महोत्सव,
सागर से मिल्ने जाते हैं
पथ में करते हुए महारव।

इनका बाल-विनोद देखते
हुए किसी तीरस्थ शिला पर,
सतत सुगन्धित देवदारु की
छाया में सानन्द बैठ कर,

सिर धर हरि के पद पद्मा पर
करके जीवन-सुमन समर्पण,
बना नहीं सकता क्या कोइ
अपने को आनन्द-निकेतन?

—रामनरेश त्रिपाठी
१८८९-१९६१

हिमालय के प्रति

हिमालय ! हिम-शेखर ! हिम-प्राण ! दिव्यता के तुम हो अवतार,
उच्चता के तुम हो आदर्श, देश के गौरव हो साकार !

खड़े हो प्रहरी-सदृश सगव भव्य भारत के तुम निर्भीक,
लिये हो युग-युग के स्मृति चिह्न विपुल वैभव के अमर प्रतीक।

विविध तरु-लता-वेलि-सम्पन्न प्रकृति के तुम हो सुषमागार,
सुगंधित मृगमद से सब काल मही के हो मनोज्ञ शृंगार।

दिवस में स्वर्ण शैल अभिराम, निशा में रजत शैल अवदात,
मनोरम गैरिक-शैल ललाम ज्ञात होते हो साय प्रात।

निकटवर्ती नभ का आलोक तुम्हें देता है कांति नवीन,
निशा में होता तारक-लोक तुम्हारे अंक-मध्य आसीन।

तुम्हारे वन हैं नन्दन-तुल्य ग्राम हैं सुरपुर-से छवि-धाम,
हो गया है तुम पर अवतीर्ण गगन से देवलोक अभिराम।

तुम्ही में पाता है मधु मास मनोहर उत्फुल्लता ललाम,
तुम्ही में होता है चरिताथ प्रथित मधु का कुसुमाकर नाम।

चन्द्रमा भी बन कर शीतांशु तुम्हें देता है सुखद प्रकाश,
ग्रीष्म भी बनता है मधुमास पहुँच कर सदा तुम्हारे पास।

दिखाते हो सबसे अनुराग, सिखाते हो तुम पर उपकार,
किया करते हो तुम, हिमवान! देश में प्रेम-भाव सचार।

नही सह सकते हो तुम ताप, शीघ्र होते हो द्रवित अपार,
बुझाने को जगती की प्यास बहा दी है नदियो की धार।

पावनी सुर-सरिता की धार तुम्हें करती है सदा पुनीत,
गूजते हैं तुममें अविराम चिरन्तन देव-लोक के गीत।

ज्ञान-निधि वेद पुराण प्रसिद्ध हुए हैं तुममें आविर्भूत,
तुम्हारे तपोवनों में दिव्य हुए हैं अगणित ग्रन्थ प्रसून।

दिये तुमने भारत को दिव्य न जाने कितने नये विचार,
तुम्हारे शृंगों से गिरिवर ! विविध धर्मों का हुआ प्रचार !

पली थी आर्य-सभ्यता चारु तुम्हारे चरणों ही के पास,
तुम्हारे प्रांगण में ही मंजु कलाओं का था हुआ विकास।

न जाने कितने अनुपम रत्न छिपे हैं तुममें तेज-निधान,
जिन्हें यह भौतिकवादी विश्व अभी तक सका नहीं पहचान।

विश्व के छल-प्रपंच में ऊब मनुज जो होते हैं हतज्ञान,
शरण में उनको देकर स्थान शान्ति करते हो शीघ्र प्रदान।

भेजते रहते हो तुम मौन देश को नित्य नये सन्देश,
दिखाते आत्मोन्नति का मार्ग ज्ञान का देते हो उपदेश।

कथाएँ भारत की प्राचीन तुम्हें हैं हस्तामलक-समान,
जानते हो वह भी इतिहास किसी को हुआ न जिसका ज्ञान।

विश्व के दो भागों के बीच खड़े हो तुम मध्यस्थ समान,
शान्ति रक्षा के शैलाधीश ! स्वयं तुम हो प्राकृतिक विधान।

हजारों उथल-पुथल के दृश्य सैकड़ों पतन और उत्थान,
देख कर भी न कदापि अधीर हुए तुम लोकोत्तर धृतिमान।

उठा कर निज गर्वोन्नत शीश देखते हो तुम जग की ओर,
न छू पाता है मद-मालिन्य तुम्हारे स्वच्छ हृदय का छोर।

हिमालय के प्रति

हिमालय ! हिम-शेखर ! हिम-प्राण ! दिव्यता के तुम हो अवतार,
उच्चता के तुम हो आदर्श, देश के गौरव हो साकार !

खड़े हो प्रहरी-सदृश सगर्व भव्य भारत के तुम निर्भीक,
लिये हो युग-युग के स्मृति-चिह्न विपुल वैभव के अमर प्रतीक।

विविध तरु-लता-वेलि-सम्पन्न प्रकृति के तुम हो सुषमागार,
सुगंधित मृगमद से सब काल मही के हो मनोज्ञ शृंगार।

दिवस में स्वर्ण-शैल अभिराम, निशा में रजत-शैल अवदात,
मनोरम गैरिक-शैल ललाम ज्ञात होते हो सायं प्रात।

निकटवर्ती नभ का आलोक तुम्हें देता है कान्ति नवीन,
निशा में होता तारक-लोक तुम्हारे अंक-मध्य आसीन।

तुम्हारे वन हैं नन्दन-तुल्य ग्राम हैं सुरपुर-से छवि-धाम,
हो गया है तुम पर अवतीर्ण गगन से देवलोक अभिराम।

तुम्ही में पाता है मधु मास मनोहर उत्फुल्लता ललाम,
तुम्ही में होता है चरितार्थ प्रथित मधु का कुसुमाकर नाम।

चन्द्रमा भी बन कर शीतांशु तुम्हें देता है सुखद प्रकाश,
ग्रीष्म भी बनता है मधुमास पहुँच कर सदा तुम्हारे पास।

दिखाते हो सबसे अनुराग, सिखाते हो तुम पर उपकार,
किया करते हो तुम, हिमवान! देश में प्रेम भाव सचार।

नहीं सह सकते हो तुम ताप, शीघ्र होते हो द्रवित अपार,
बुझाने को जगती की प्यास बहा दी है नदियों की धार।

पावनी सुर-सरिता की धार तुम्हें करती है सदा पुनीत,
गूँजते हैं तुममें अविराम चिरन्तन देव-लोक के गीत।

ज्ञान निधि वेद पुराण प्रसिद्ध हुए हैं तुममें आविर्भूत,
तुम्हारे तपोवनों में दिव्य हुए हैं अगणित ग्रंथ प्रसूत।

दिये तुमने भारत को दिव्य न जाने कितने नये विचार,
तुम्हारे शृंगों से गिरिवर्य! विविध धर्मों का हुआ प्रचार!

पली थी आर्य-सभ्यता चारु तुम्हारे चरणों ही के पास,
तुम्हारे प्रांगण में ही मंजु कलाओं का था हुआ विकास।

न जाने कितने अनुपम रत्न छिपे हैं तुममें तेज-निधान,
जिन्हें यह भौतिकवादी विश्व अभी तक सका नहीं पहचान।

विश्व के छल-प्रपंच से क्लान्त मनुज जो होते हैं हतप्राण,
शरण में उनको देकर स्थान शान्ति करते हो शीघ्र प्रदान।

भेजते रहते हो तुम मौन देश को नित्य नये सन्देश,
दिखाते आत्मोन्नति का मार्ग ज्ञान का देते हो उपदेश।

कथाएँ भारत की प्राचीन तुम्हें हैं हस्तामलक-समान,
जानते हो वह भी इतिहास किसी को हुआ न जिसका ज्ञान।

विश्व के दो भागों के बीच खड़े हो तुम मध्यस्थ समान,
शान्ति-रक्षा के शैलाधीश! स्वयं तुम हो प्राकृतिक विधान।

हजारों वत्सर के दृश्य सैकड़ों पतन और उत्थान,
देख कर भी न कदापि अधीर हुए तुम लोकोत्तर धृतिमान।

उठा कर निज गर्वोन्नत शीश देखते हो तुम जग की ओर,
न छू पाता है मद-मालिन्य तुम्हारे स्वच्छ हृदय का छोर।

प्रकृति के हो तुम मन्दिर मंजु धरा की पवित्रता के धाम,
विश्व के हो तुम श्रद्धा-पात्र, रूप है रुचिर, मधुर है नाम।

रहा है तुमको प्राप्त सदैव तपस्वी ऋषि मुनियों का प्यार,
गुफाओं में संचित है दिव्य युगों का अतुल ज्ञान-भण्डार।

दिया तुमने गिरिजा को जन्म, जिसे पाने को स्वयं महेश,
हो गये सगुण-प्रेम में लीन, छोड़ निर्गुण का ध्यान विशेष।

इधर भारत की सुन्दर भूमि उधर तिब्बत की धरा ललाम,
तुम्हारे चरणों पर रख शीश सदा करती हैं तुम्हें प्रणाम।

छिपा है तुममें प्रचुर रहस्य जगत के जीवन का अमरत्व,
शिलाओं में है अंकित दिव्य मनुजता के अध्यात्मिक तत्त्व।

तुम्हारे दृश्यों में है काव्य, निर्झरों में है मृदु संगीत,
श्वेत शिखरों में उच्चादर्श, वनों में है सद्भाव पुनीत।

व्योम से स्पर्शित पर्वतराज! तुम्हारे उच्च शिखर छबिमान,
वारिदों के विश्राम-स्थान बने हैं सुरपुर के सोपान।

ज्ञात होते हैं नित्य नवीन तुम्हारे शुचि प्रदेश प्राचीन,
तुम्हारा है नैसर्गिक रूप, स्वच्छ, निर्मल, आडम्बरहीन।

वहन करते हो तुम सब काल देश-रक्षा का गुरुतर भार,
तपश्चर्या करते हो नित्य कि सन्तत सुखी रहे संसार।

—गोपालशरण सिंह
१८८९ १९६०

हिमाद्रि तुंग शृंग से
प्रबुद्ध शुद्ध भारती
स्वयंप्रभा समुज्ज्वला
स्वतन्त्रता पुकारती
'अमर्त्य वीरपुत्र हो, दृढ़प्रतिज्ञ सोच लो

प्रशस्त पुण्य पन्थ है -
बढ़े चलो, बढ़े चलो।'

असंख्य कीर्ति - रश्मियाँ
विकीर्ण दिव्य दाह - सी।
सपूत मातृभूमि के -
रुको न शूर साहसी।
अराति सैन्य-सिन्धु में सुवाडवाग्नि से जलो,

प्रवीर हो जयी बनो
बढ़े चलो, बढ़े चलो।

हिमालय

विश्व-कल्पना-सा ऊँचा वह
सुख शीतल संतोष निदान,
और डूबती सी अचला का
अवलम्बन मणि रत्न निधान।

अचल हिमालय का शोभनतम,
लता-कलित शुचि सानु शरीर,
निद्रा में सुख स्वप्न देखता
जैसे पुलकित हुआ अधीर।

उमड रही जिसके चरणों में,
नीरवता की विमल विभूति,
शीतल झरनों की धारा में
बिखराती जीवन अनुभूति।

उस असीम नीले अंचल मे
देख किसी की मृदु मुस्कान,
मानो हँसी हिमालय की है
फूट चली करती कल गान।

शिला-सन्धियों में टकराकर
पवन भर रहा था गुंजार,
उस दुर्भेद्य अचल दृढता का
करता चारण सदृश प्रचार।

सन्ध्या घन माला की सुन्दर
ओढे रंग बिरंगी छींट,
गगन चुम्बिनी शैल-श्रेणियाँ,
पहने हुए तुषार-किरीट।

विश्व, मौन, गौरव महत्व की
प्रतिनिधियो सी भरी विभा,
इस अनन्त प्रागण में मानो
जोड रही हो मौन सभा।

वह अनन्त नीलिमा व्योम की
जडता सी जो शान्त रही,
दूर दूर ऊँचे से ऊँचे
निज अभाव में भ्रान्त रही।

उसे दिखाती जगती का सुख,
हँसी और उल्लास अजान,
मानो तुग तरग विश्व की
हिमगिरि की वह सुढर उठान।

थी अनन्त की गोद सदृश जो
विस्तृत गुहा वहा रमणीय,
उसमें मनु ने स्थान बनाया,
सुन्दर स्वच्छ और वरणीय।

श्रम ताप और पथ-पीडा
क्षण भर में थे अन्तर्हित,
सामने विराट धवल नग
अपनी महिमा से विलसित।

उसकी तलहटी मनोहर
श्यामल तृण वीरुध वाली,
नव कुज गुहा-गृह सुदर
ह्रद से भर रही निराली।

वह मजरियो का कानन
कुछ अरुण पीत हरियाली,
प्रतिपव सुमन सकुल थे
छिप गइ उन्ही में डाली।

मरक्त की वेदी पर ज्यो
रक्खा हीरे का पानी,
छोटा सा मुकुर प्रकृति का
या सोइ राका रानी।

दिनकर गिरि के पीछे अब
हिमकर था चढा गगन में,
कैलास प्रदोप प्रभा में
स्थिर बैठा किसी लगन में।

सन्ध्या समीप आइ थी
उस सर के वल्कलवसना,
तारो से अलक गुंथी थी
पहने कदम्ब की रसना।

खग कुल किल्कार रहे थे
कल्हस कर रहे कल्रव,
किन्नरियाँ बनी प्रतिध्वनि
लेती थी ताने अभिनव।

मनु बैठे ध्यान निरत थे
उस निमल मानस तट में,
सुमनो की अजलि भर कर
थी श्रद्धा खडी निकट में।

—जयशकर 'प्रसाद'
१८८९–१९३७

ऊर्ध्व मंच में उतर प्रतीची के प्रांगण में,
विल्ट रहे थे जहा स्वर्ण-हय-गज क्षण क्षण में,
हुआ दिवाकर रक्त जवनिका में अन्तर्हित,
बाहर जिसकी रश्मि-गिरा अब भी थी मुखरित।

सूनापन बढ चला शैल के सूनेपन में,
मुँदने को हो उठे नयन ज्यों मूक वदन में,
बिखरे आभा रत्नकणा का संचय करती,
दरसी सन्ध्या अधोमुखी धीरे पग धरती।
रुका पवन चुपचाप लगा लेने आहट-सी,
आ पहुँचा तमसाधकार क्या वहीं निकट ही।

थी यह अन्तिम शिला कि जिस पर आरोहण कर,
दीखेगा या प्रथम बार हृद किञ्चित कण भर—
शैल-द्रुमा की किसी सन्धि में से ज्यों झलमल,
झाँक रहे हो नेत्र किसी के नीलम निर्मल।

निस्तल का यह सलिल पलायित बालक के सम,
घर धरती में गहन गभगत मार्ग सुदुर्गम,
उत्सवेग में उच्च अद्रि पर आरोहण कर,
ताक रहा था नील गगन को शिलाशयन पर।
इस गिरि का जलकुण्ड वही नव नीलम निर्मल,
नीलकण्ठ की स्मरण-साधना में था अविचल।

•

पूजन

पद-पूजन का भी क्या उपाय ?
तू गौरव गिरि उत्तुंग काय !

तू अमल-धवल है, मैं श्यामल,
ऊँचे पर है तेरे पद-तल,
यह हूँ मैं नीचे का तृण-दल
पहुँचूँ उन तक किस भाँति हाय !
तू गौरव गिरि उत्तुंग काय !

हो शत शत झंझावात प्रबल,
फिर भी स्वभावत तू अविचल।
मैं तनिक-तनिक में चिर चंचल,
मेटूँ कैसे यह अंतराय ?
तू गौरव गिरि उत्तुंग काय !

अविरत तेरा करुणा - निर्झर
अगणित धाराओं से झर झर,
जीवित रखता है जीवन भर
मेरा यह जीवन जड़ित प्राय ?
तू गौरव गिरि उत्तुंग काय !

है जहाँ अगम्य दिवाकर - कर
तेरे गह्वर भी आकर - वर,
हैं ऊँचों से भी ऊँचे पर,
मन उन तक भी किस भाँति जाय ?
तू गौरव गिरि उत्तुंग काय !

—*सियारामशरण गुप्त*
जन्म १८९५

हिन्दुस्थान हमारा है

कोटि कोटि कण्ठो से निकली
आज यही स्वर - धारा है,
भारतवर्ष हमारा है, यह
हिंदुस्थान हमारा है।

यहा प्रथम मानव ने खोले
निंदियारे लोचन अपने,
इसी नभ तले उसने देखे
शत - शत नवल - सृजन सपने,
यहाँ उठे, 'स्वाहा!' के स्वर औ'
यहा स्वधा के मन्त्र बने,
ऐसा प्यारा देश पुरातन
ज्ञान निधान हमारा है।

भारतवर्ष हमारा है, यह
हिंदुस्थान हमारा है।

विन्ध्य, सतपुडा, नागा, खसिया,
ये दो औघट घाट महा,
भारत के पूरब - पश्चिम के
ये दो भीम कपाट महा,
तुंग - शिखर, चिर - अटल हिमाचल
है पर्वत - सम्राट यहा,
यह गिरिवर बन गया युगो से
विजय - निशान हमारा है।

भारतवर्ष हमारा है, यह
हिन्दुस्थान हमारा है।

(२)

है आसन्न-भूत अति उज्ज्वल,
है अतीत गौरव शाली,
औ छिटकी है वर्तमान पर
बलि के शोणित की लाली,
नव-ऊषा-सी विजय हमारी
विहँस रही है मतवाली
हम मानव को मुक्त करेंगे
यही विधान हमारा है।

भारतवर्ष हमारा है, यह
हिन्दुस्थान हमारा है।

गरज उठे चालीस कोटि जन
सुन ये वचन उछाह - भरे,
काँप उठे प्रति पक्षी जनगण,
उनके अंतस्तल सिहरे,
आज नये युग के नयनों से
ज्वलित अग्नि के पुंज झरे।
कौन सामने आयेगा? यह
देश महान हमारा है।

भारतवर्ष हमारा है, यह
हिन्दुस्थान हमारा है।

—बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'
१८९७—१९६०

नगाधिराज के शिखर चमक चमक उठे

बदल गये दिवस, बदल महा निशा गईं,
कि सूर्य, चन्द्र, मेघ औ' बदल उषा गईं,
निशा गईं बदल महान् अंधकार की,
कि जीन में गयी बदल पुकार हार की।

अरे महान् देश के महान् अंग तुम,
रहे स्वदेश शक्ति में विवेक संग तुम,
स्वदेश है विपत्तिग्रस्त प्राण, ओज दो,
स्वशक्ति का स्वदेश में खिला सरोज दो।

नगाधिराज के शिखर चमक चमक उठे,
सुधांशु पीत सिंधु जल लपक लपक उठे,
कि प्राण में लहर उठे चमक उठे धरा,
अनन्त शक्ति उर्वरा बने वसुंधरा।

—उदयशंकर भट्ट
जन्म १८९७

भारती-वन्दना

भारति, जय, विजय करे
कनक - शस्य - कमल धरे !

लका पदतल - शतदल,
गर्जितोर्मि सागर - जल,
धोता शुचि चरण - युगल
स्तव कर बहु अथ - भरे !

तर - तण - वन - लता - वसन,
अन्चल में खचित सुमन,
गगा ज्योतिजल - कण
धवल - धार हार गले !

मुकुट शुभ्र हिम - तुषार,
प्राण प्रणव ओंकार,
ध्वनित दिशायें उदार,
शतमुख - शतरव - मुखरे !

—सूयकान्त त्रिपाठी 'निराला'
१८९८—१९६१

हरियाली से भरी हुई है घाटी की गहराई,
जिसमें खग कूजन की धारा फिरती है लहराई।
शिला खण्ड में भूलि वनानी, धार वारि छैनी से,
मग में रुक कुछ कह लेती है, जोगी मृगनयनी से।

गिरती पड़ती चक्कर खाती, नाच भँवर में, गाती,
सुमन-राशि अंचल में भरती, मदमाती, इठलाती।
गूथ गूथ, सरि ने शृंगो को वनमाला पहनाई,
सुर वधुएँ देखा करती है यह शोभा ललचाई।

लिपटे हैं आकाश-अंक में शृंग श्रेणियों के शिशुगण,
मचल मचल, उन्नत पयोधरों में, लुक छिपकर ताप शमन,
सन्ध्या से, रवि कन्दुक क्रीड़ा में, जो छीन छिपाते हैं
चमक चमक कर, रँग में भर भर, अद्भुत रूप दिखाते हैं।

इन घासों के मैदानों में इन हरे भरे मखतूलों पर,
इन गिरि-शिखरों के अंकों में, इन सरिताओं के कूलों पर।
जो रहा चाटता ओस रात भर प्यासा हो या घूम रहा
वह मारुत पुष्पों का प्याला खाली कर कर है झूम रहा।

पवन के चरणों में लिपटी वह हरी भरी जो घाटी है,
जिसमें झरने की झर झर है फूलों ही से जो पाटी है,
उसके तट से सुरम्य भू पर, झाड़ी के झिलमिल घूंघट में,
है नई कली इक बाल रही लिपटी घासों के ही पट में।

—गुरुभक्त सिंह 'भक्त'
जून १८९९

हिमाद्रि

मानदड भू के अखड हे
पुण्यधरा के स्वर्गारोहण,
प्रिय हिमाद्रि, तुमको हिमकण-से
घेरे मेरे जीवन के क्षण!
मुझ अचलवासी को तुमने
शैशव में आशा दी पावन,
नभ में नयनो को खो, तब से
स्वप्नो का अभिलाषी जीवन!
कब से शब्दो के शिखरो में
तुम्हें चाहता करना चित्रित!
शुभ्र शान्ति में समाधिस्थ हे
शाश्वत सु दरता के भूभृत्!
बाल्य चेतना मेरी तुम में
जडीभूत आनद तरगित,
तुम्हें देख सौदय - साधना
महाश्चय से मेरी विस्मित!

जिन शिखरो को स्वण किरण नित
ज्योति-मुकुट से करती मडित,
जिन पर सहसा स्खलित तडित्
हो उठती निज आलोक से चकित,
जिन शिखरो पर रजत पूर्णिमा
सिधु-ज्वार-सी लगती स्तभित,
जिनकी नीरवता में मेरे
गीत स्वप्न रहते थे धकृत!

जिनकी शीतल ज्वाला में जल
बनी चेतना मेरी निर्मल,
प्राण हुए आलोकित जिनके
स्वर्गोतत सौन्दय से सजल।
हृदय चाहता काव्य कल्पना को
किरीट पहनाना उज्ज्वल,
स्मृति में ज्योति तरगित स्वर्गिक
शृगो के आलोक का तरल।

रवि की किरणें जिसे स्पश कर
हो उठती आलोक निनादित,
जिस पर ऊपा सध्या की छवि
आदि सृष्टि-सी हो स्वर्णांकित,
इन्दु ज्वलित तुम स्फटिक धवलिमा
के क्षीरोदधि - से हिल्लोलित,
ज्योत्स्ना मे थे स्वप्न मौन
अप्सरा लोक-से लगते मोहित।

सुरँग प्रवालो की रत्न-श्री
अहरह रहती जहाँ ममरित,
देवदारु की चारु सूचि से
मरकत तलहटियाँ रोमाचित।
मौन स्वग-मुख पर अकित तुम
शुचि दिगत स्मृति-से चिर शोभित
आदि तत्व-से, अपनी ही शोभा
विलोक रहते अनिमेषित।

नीली छायाएँ थी तन पर
लगती आभा की सी सिकुडन,
इद्र धनुष मडल से दीपित
उडते थे शत हँसमुख हिमकण,
स्वर्दूतो के पखो - से स्मित
तडित चकित हिम के रोमिल घन
रगो से वेष्टित रखते थे
तुमको हे आलोक निरजन!

प्रति वत्सर आती थी मधु ऋतु
सद्य स्फुट देही ले कुसुमित,
चीर रश्मियो को, फूलो के
अगो पर निज कर शत रजित,
खुलती - पखडियो की कचुक
सौरभ श्वासो से थी स्पदित,
मेरे शैशव को नित उसकी
गीत कोकिला करती कुजित!

कलरव, स्वप्नातप, सुरधनु पट,
शशिमुख, हिमस्मिति, गात्र ले श्वसित,
षड्ऋतु करती थी परिक्रमा
अप्सरियो सी सुरपति प्रेषित,
शरद चद्रिका हो जाती थी
स्वप्नो के शृगो पर विजडित,
हिम की परियो का अचल उड,
भू को कर लेता था परिवृत!

रग रग के चित्रित पक्षी
उडते नभ में गीत तरगित,
नील पीत भगा का गुजन
मौन क्षणो को रखता मुखरित,
ऊष्मा का सूर्यातप तुम में
लगता शीतलता - सा मूर्तित,
इ द्रचाप - पुल पर, वर्षा में,
सुरबालाएँ आ जाती नित।

जग प्रच्छाय गुहाओ मे नव,
वाष्पो के गज भरते गजन,
चचल विद्युत - लेखाएँ थी
लिपट दृगो से जाती तत्क्षण,
ताराओ के साथ सहज
शैशव स्वप्नो से भर जाता मन,
उठते थे तुम अन्तर में
सौंदय स्वप्न - शृगो - पर मोहन।

मेघा की छाया के सँग - सँग,
हरित घाटियाँ चलती प्रतिक्षण,
वन के भीतर उडता चक्र
चित्र तितलियो का कुसुमित दल,
रँग - रँग के उपलो पर [illegible]
उछल उत्स करते [illegible] [illegible]
झरनो के स्वर जम - से [illegible]
रजत हिमानी सूनो में [illegible]।

भीम विशाल शिलाओ का वह
मौन हृदय में अब तक अकित,
फेनो के जल स्तभो - से वे
निझर रभस वेग से मुखरित,
चीडो के तरु वन का तम
साँसे भरता मन में आदोलित,
दरियो की गहरी छायाएँ
ज्योति रिंगणो से थी गुफित !

गाते उर में क्षिप्र स्रोत,
लहराते सर तुषार के निर्मल
सौरभ की गुजित अलको से
छू समीर उर करता शीतल,
नीली पीली हरी लाल
चपलाओ का नभ जगता चचल,
रजत कुहासे में, क्षण में,
माया प्रातर हो जाता ओझल !

मदन दहन की भस्म अनिल में
उड, अब तक तन करती पुलकित,
सती अपर्णा के तप से
वनश्री अवाक - सी लगती विस्मित !
अब भी ऊषा वहाँ दीखती
वधू उमा के मुख - सी लज्जित,
बढती चद्रकला भी गिरजा - सी
ही गिरि के क्रोड में उदित !

अव भी वही वसत विचरता
पुष्पशरो से भर दिगत स्मित,
गघोद्दाम धरा वह ही, पाषाण-
शिलाएँ पुलक पल्लवित।
अव भी प्रिय गौरा का शैशव
वर्णन करते खग - पिक मुखरित,
देवदारु के ऊर्ध्व शिखर
वैसे ही शकर - से समाधि स्थित।

—सुमित्रानन्दन पन्त
जन्म १९००

हिम-विजन

शुभ्र शांत, हिममहिम असीम विजन में
करता था वह वास, सदा - निर्वासी,
हिम की स्फटिक-शिला से रचित भवन में,
एकाकी रहता था नित उल्लासी।

माया - भवन रचा वह मय दानव ने,
इन्द्रजाल - सा था वैसा मन - मोहन!
वह शोभा देखी न कभी मानव ने,
विचलित हो जाते थे विस्मित लोचन।

हिमाधार पर हिम के स्तम्भ खड़े थे,
खण्ड खण्ड था शुभ्र काच सा निमल,
ठौर ठौर नीहार - प्रदीप पड़े थे—
सूयकांत की प्रखर प्रभा से उज्ज्वल!

चन्द्रकांत मणि की फुलझड़िया शीतल
हिम के फानूसा पर नित्य चमकती,
पुण्य प्रकाश तुपार-शिखाएँ अविचल
स्तम्भों में निष्कप, निवात झलकती।

हिम स्फुलिंग–कणिकाओ का फौवारा
शुभ्र फलक पर फुहारता था छर-छर,
यन्त्र - विनिगत, रजत - भाम हिमधारा
लहराती उस माया - गृह के भीतर।

विपुल काल तक विमल तपन की माया
उसे निरतर करती थी आलोकित,
दीघअवधि तक निखिल तारका छाया
स्निग्ध भास में करती उसको पुलकित।

दीघ समय में एक वार खिल्ती थी
ऊषा की लाली उस परी भवन में,
एक वार थिलमिल झिलमिल हिल्ती थी
कनक - झल्क सध्या की उस दरपन में।

समय समय पर ज्योत्स्ना लहर - ल्हर कर
हिम - महिमा पर शात छटा फैलाती,
उस माया की मूर्च्छा सिहर - सिहर कर
शुभ्र विजन को करके मगन सुलाती।

राजभूमि में उस अखड शोभा की
राज किशोर मगन - मन से रहता था।
छटा विभासित करके आत्म विभा की
शुभ्र भास में मन्द मन्द वहता था।

—इलाचद्र जोशी
जम १९०२

कौन तुम अग्नि शिखा की ज्वाल

शाति के मण्डल में है व्याप्त
तुम्हारा यह अशात ससार,
और अनिमेष दृगो की ज्योति
क्षितिज को कर जाती है पार।
तुम्हारी क्रीडा के है स्रोत
सात आकाश सात पाताल।
तुम्ही हो जीवन के प्रतिबिम्ब
अमरता के पावन उपहार,
तुम्ही में है सत चित आनद
तुम्ही हो जग के बेसुध प्यार।
विश्व का व्यापक कल्प
तुम्हारा कल्प शू य की चाल।

मनुष्य जब सगर्व कह उठा कि आज मान दो।
मुझे महान मान दो!
प्रकृति पुकार तब उठी अरे कि शीश दान दो!
समय शीश दान दो!

—भगवतीचरण वर्मा
जन्म १९०३

वीरो का कैसा हो वसन्त ?

आ रही हिमाचल से पुकार,
है उदधि गरजता बार बार,
प्राची पश्चिम भू नभ अपार,
सब पूछ रहे ह दिगदिगन्त,
वीरो का कैसा हो वसन्त ?

फूली सरसो ने दिया रग,
मधु लेकर आ पहुँचा अनग,
वधु-वसुधा पुलकित अग अग,
है वीरवेश में किन्तु कन्त
वीरो का कैसा हो वसन्त ?

भर रही कोकिला इधर तान,
मारू बाजे पर उधर गान,
है रग और रण का विधान,
मिलने आये ह आदि अन्त,
वीरो का कैसा हो वसन्त ?

गलबाहें हो या हो कृपाण,
चल चितवन हो या धनुष-बाण,
हो रस-विलास या दलित-त्राण,
अब यही समस्या है दुरन्त,
वीरो का कैसा हो वसन्त ?

कह दे अतीत अब मौन त्याग,
लंके तुझमें क्यों लगी आग?
ऐ कुरुक्षेत्र! अब जाग जाग,
बतला अपने अनुभव अनन्त,
वीरों का कैसा हो वसन्त?

हल्दी घाटी के शिलाखण्ड,
ऐ दुर्ग सिंहगढ के प्रचण्ड,
राणा नाना का कर घमण्ड,
दो जगा आज स्मृतियाँ ज्वलन्त,
वीरों का कैसा हो वसन्त?

भूषण अथवा कवि चन्द नहीं,
बिजली भर दे वह छन्द नहीं,
है कलम बँधी स्वच्छन्द नहीं,
फिर हमें बतावे कौन हन्त?
वीरों का कैसा हो वसन्त?

—सुभद्रा कुमारी चौहान
१९०४—१९४८

हिमालय से

उत्तर के शृंगार!
प्रश्न - चिह्नों - जैसे ओ शृंगाकार!

पूछो इस भू - मण्डल से
यह किसने छुआ देश का द्वार!
किसका यह विश्वासघात है
जो गूंजा सीमा के पार!
गंगा की धारा के ऊपर
कैसे वही रक्त की धार!

पूछो किसने मानवता की छाती पर गोली मारी?
किसके पैरों ने कुचली है, भारत की सीमा सारी?

क्या उत्तर मिल गया?
चीन के दुस्साहस का मिला प्रमाण!
यह समस्त इतिहास हो गया
जैसे बिल्कुल ही निष्प्राण?
इस भारत ने सिखलाया था
जिसे तथागत का निर्वाण,
वही कर रहा राजनीति का
आज छद्मवेशी निर्माण?

तुमने रोका नहीं उसे, अपनी विस्तीर्ण भुजाओं से?
हो मध्यस्थ हिमालय! तुम अपनी हिम-शृंग ध्वजाओं से।

आज तुम्हारी शपथ!
प्राण मे जाग उठी भीषण ज्वाला।
अरि - मुण्डो से पूण बनेगी,
यह अपूण सी गिरि - माला।
भूमि - भाग का एक एक कण
बना हुआ है अगारा।
शाति - दूत भारत ने है, फिर
भैरव बन कर ललकारा।

सुनो, आज यह देश, युद्ध - व्रत में बन गया समूचा है।
सैनिक का उत्साह, तुम्हारे हिम - शृगो से ऊँचा है।

आज तुम्हारी दृढता से भी
अधिक सुदढता पाइ है।
जो चिनगारी सोइ थी
वह ज्वाला बनकर आइ है।
कौन शत्रु सम्मुख होगा?
यह महानाश की वाणी ह।
रक्त - तिल्क मस्तक पर देकर,
सनिक प्राणी - प्राणी है।

तुम साक्षी रहना, हिमगिरि, हुकार सत्य ने दे दी है।
दानव के मस्तक पाने को यह रक्तभरी बलिवेदी है।

किसने कहा कि तुम जड हो
क्या तुममें है कैलास नही?
क्या प्रलयकर के डमरू से
नाचा कण कण में नाश नही?

वह महाप्रलय फिर से होगा,
होगा विनाश प्राचीरों का।
क्षण भर प्रलयंकर रुके
घोष होगा भारत के वीरों का।

संसार सुनेगा शीघ्र कायरों का स्वर कितना धीमा है।
यह तुंग हिमालय आज हमारी छाती की दृढ़ सीमा है।

—रामकुमार वर्मा
जन्म १९०५

मै गायक हूँ स्वच्छन्द हिमाचल का

मैं पथिक सदा प्यासा गगाजल का।

गिरिराज हिमालय मेरा है प्रहरी
प्रेमाजलि मेरी सागर की लहरी,
मेरी मधुर उमगें वन की कलियाँ
ये ग्राम नगर मेरी जीवन गलिया,
मैं इसी देश की मिट्टी का पुतला
इसको जिसने कुचला, मुझको कुचला,

मेरी स्नेहमयी आँखो में देखो
श्यामल यमुना का निमल जल छलका।

मेरी जीवन - ग्रन्थि प्रेम के बधन
मेरा जीवन साध्य नही, है साधन,
मेरा व्रत मानवता का आराधन
मेरा श्रम चिन्ता सागर का मथन,
सदियो से मैने जीवन ज्योति जगाइ,
जग वन में आशा की बेलि लगाइ।

दुनिया मेरा सदेश सुना करती
म गायक हूँ स्वच्छद हिमाचल का।

यह वग देश का सूर्योदय उज्ज्वल
भरता मुखमें नवजीवन का सम्बल,
सूर्यास्त सिंध का वरुण अरुण सुदर
घर जाता दीप जलाकर मेरे घर,

मैं उत्तर दिशि के हिम से हूँ शीतल
मैं दक्षिण दिशि के झोंको से चचल,

हूँ लौट रहा जनपद के चरणो में
मैं मलय पवन सुरभित विन्ध्याचल का।

जग के वन में गूजी मेरी बोली
कर रहा स्नेह की मैं खाली झोली,
मैंने फूँके प्राण कला के तन में
प्रतिमा रख दी जग के सूने मन मे,
मैंने सागर में नावें दौडाईं
लहरियाँ चरण मेरे छूने आईं।

मैंने उनको उठा किया आलिंगन
मैं खडा कूल हूँ सागर चचल का।

नगरो में जीवन दीप जला करते
ग्रामो में बधन मुक्त चला करते,
हम शान्त, रसिक, भोले भारतवासी
आजादी है जिनकी काबा काशी,
वह मेरा देश, जहाँ हल्दी घाटी
मैंने दिन रातें आखो में काटी।

मैं आज मुक्ति की ओर बढा जाता
दामन थामे दुनिया की हलचल का।

अनुराग यहाँ विश्वास बना करता
पतझार यहा मधुमास बना करता,
रण-मरण यहा उल्लास बना करता
बलिदान यहाँ इतिहास बना करता,
मैं फूलो का मधुप नही दुनिया में
म तो कर में अपना मस्तक थामे।

चाहे रण का, रस का, पावस का हो
म तो चाहक हूँ काले बादल का।

—गोपालसिंह नेपाली
जन्म १९०६

भारत की यह परंपरा है—
जब नारी के बालों को खींचा जाता है,
धर्मराज का सिंहासन डोला करता है,
क्रुद्ध भीम की भुजा फड़कती,
वज्रघोष मणिपुष्पक औ' सुघोष करते हैं,
गांडीव की प्रत्यंचा तड़पा करती है,
कहने का तात्पर्य,
महाभारत होता है,
अगर कभी झूठी ममता,
दुर्बलता, किंकर्तव्यमूढ़ता
व्यापा करती,
स्वयं कृष्ण भगवान् प्रकट हो
असंदिग्ध औ' स्वतः सिद्ध
स्वर में कहते,
'युध्यस्व भारत।'

भारत की यह परंपरा है—
जब नारी के बालों को खींचा जाता है,
एक महाभारत होता है।
तूने भारत को केवल
रेखांश और अक्षांश जाल में
बद्ध चित्रपट समझ लिया है,
जिसकी कुछ शीर्षस्थ लकीरें,
जब तू चाहे, घटा - मिटाकर
अपने नक्शे में दिखला ले?

हथकडियाँ कडकडा, बेडियो को तटकाकर,
अपने बल पर मुक्त, खडी
भारत माता का
रूप विराट
मदाध, नही तूने देखा है,
(नशा पुराना जल्द नही उतरा करता है।)
और न अपने भौतिक दृग से देख सकेगा।
आकर कवि से दिव्य दृष्टि ले।
पूरब, पच्छिम, दक्षिण से आ
अगम जलभर, उच्छल, फेनिल
हिंद महासागर की अगणित
हिल्लोलित, कल्लोलित लहरें
जिन्हें अहर्निश
प्रक्षालित करती रहती हैं,
अविरल,
वे भारतमाता के
पुण्य चरण हैं—
पग-नखाग्र कन्या कुमारिका-मदिर शोभित।
और
पूरवी घाट, पच्छिमी घाट
उसी के पीन, पुष्ट, दृढ जघ-पाट हैं।
विंध्य-मेखला कसी हुइ है कटि प्रदेश में।
वक्षस्थल पर गगा-जमुनी हार झूलता—
कौसल - ब्रज की
दुग्ध - धार से
राम - कृष्ण - बल - वभव सिंचित,
शिव - धनु खडित,
रावण मर्दित,

इद्र विनिदित,
कस विलुठित—
व्यास कठ में।
दक्षिणाक में
खड्ग और जौहर ज्वाला का
राजस्थानी महामरुस्थल दीप्तमान है।
वाम बाहु आशीष और आरक्षण का
आश्वासन बनकर ब्रह्मपुत्र तक
फैल रहा है,
जिसके नीचे
लक्ष - लक्ष हल
गीतो की लय-गति पर चलकर
भू का अचल
करते धानी, करते पीला,
और देख वह
भाल दिव्य, हिम-शुभ्र, सजीला,
जिसके ऊपर कश्मीरी केशर क्यारी का
खौर लगा है,
औ' हिंदूकुश और हिमालय की
जो मघन शिला - वल्लरियाँ
उत्तर - पच्छिम, उत्तर - पूरब
दूर - दूर तक
छछडी, छिटकी, बिखरी, फैली,—
अमरनाथ - गौरीशकर - कैलाश विचुबित
वे भारतमाता के कधो पर अवलबित
उसकी अलकें, नाग लटे है वेणी-चोटी,
जो कि हमारी जीवित सस्कृति परपरा में
नारी के गौरव के

सब से शीष चिह्न है,
जिनकी लाज बचाने को,
इज्जत रखने को,
मूल्य बडा से बडा
चुकाने को हम उद्यत।
(फिर चालीस कोटि की मा की
भव्य लटा की !)

तूने आज इन्ही को छेडा है,
खीचा है
किसी नशे में तू अपने से
बाहर चला गया है,
सयम इसीलिए हम
साध रहे हैं।
तुझे नही मालूम कि तूने
कितना भीषण और भयावह
काम किया है!
फिर कहता हूँ,
भारत की यह परपरा है—
जब नारी के बालो को छेडा जाता है,
धमराज का सिंहासन डोला करता है,
क्रुद्ध भीम के बाहु फडकते,
वज्रनाद मणिपुष्पक औ' सुघोष करते है,
गाडीव की प्रत्यचा कडका करती है,
कहने का तात्पय,
महाभारत होना ह,
अगर कभी थोयी ममता,

दुर्बलता, किंकर्तव्यमूढता
व्यापा करती,
स्वय कृष्ण भगवान प्रकट हो
असदिग्ध औ' स्वत सिद्ध
वाणी में कहते,
'उत्तिष्ठ युध्यस्व भारत !'

—हरिवशराय 'बच्चन'
जन्म १९०७

पृथिवी

श्यामला, सजला, शुभा, सुमना, सुभग सुकुमार
स्रग्धरा, मेघाम्बरा, विश्वभरा, सुख - सार,
शाश्वती, शस्यावती, सौदय - सुषमागार
सुस्मिता वसुधा सुधा - स्निग्धा अतीव उदार,

हैं कहाँ वह एषणा-अभिसार ?

मजुला जिसके हृदय में प्रीति का गुजार
वत्सला वह जो कि देती नित नये उपहार,
माधवी वह जो कि करती सतत मधु-सचार
दृष्टि ही जिसकी अमत की वृष्टि प्राण - फुहार,

है कहाँ वह भव विभव भाडार ?

वह विधित्सा जो कि जीवन - बीन की झकार
वह निरीक्षा जो लिये रहती सुयश - विस्तार,
वह प्रतीक्षा गूथती जो निमिष - पल के द्वार
वह तितिक्षा जो सँभाले सजल - सेवा - भार,

है कहाँ वह साधना साकार ?

बन्द जिसके एक कण में कोटि - कोटि विचार
मृत्तिका में प्राण, प्राणो में नया ससार,
भावनाओ में जिसे पाया उठाते ज्वार
ऊर्मियो के बीच देगा खोलते युग - द्वार,

है कहाँ वह भाव भूमि अपार ?

स्पर्श से जिसने बजाये सर्जना के तार
सात स्वर जिसने सजाये, सात वन्दनवार,
बीच में अपने खड़ी अचल अनन्त पसार
आरती - सी वारती लौ भारती - सी प्यार!

है कहाँ वह धर्म-धृति-आधार?

है कहाँ वह चेतना जिसके ज्वलित अंगार
कौंधते तम को हटा मानस - क्षितिज के पार,
जो कहीं आहुति, कहीं यज्ञाग्नि का हुंकार
जो कहीं करुणा, कहीं तरुणा - तरंग - पुकार,

है कहाँ पृथिवी सृजन-शृंगार?

—केदारनाथ मिश्र 'प्रभात'
जन्म १९०७

हिमालय के प्रति

मेरे नगपति! मेरे विशाल!

साकार, दिव्य, गौरव, विराट,
पौरुष के पुंजीभूत ज्वाल!
मेरी जननी के हिम-किरीट!
मेरे भारत के दिव्य भाल!
मेरे नगपति! मेरे विशाल!

युग-युग अजेय, निर्बन्ध, मुक्त
युग-युग गर्वोन्नत, नित महान्,
निस्सीम व्योम में तान रहे
युग से किस महिमा का वितान?

कैसी अखण्ड यह चिर समाधि?
यतिवर! कैसा यह अमर ध्यान?
तू महा शून्य में खोज रहा
किस जटिल समस्या का निदान?

उलझन का कैसा विषम जाल?
मेरे नगपति! मेरे विशाल!

ओ, मौन तपस्या लीन यती!
पल भर तो कर नयनोन्मेष,
रे ज्वालाओं से दग्ध विकल
है तड़प रहा पद पर स्वदेश।

सुखसिन्धु पच नद, ब्रह्मपुत्र
गगा जमुना की अमिय धार,
जिस पुण्यभूमि की ओर बही
तेरी विगलित करुणा उदार,

जिसके द्वारो पर खडे क्रान्त
सीमापति ! तू ने की पुकार
'पद दलित इसे करना पीछे
पहले ले मेरा सिर उतार' !

उस पुण्यभूमि पर आज तपी !
रे आन पडा सकट कराल,
व्याकुल तेरे सुत तडप रहे
डँस रहे चतुर्दिक विविध व्याल।

मेरे नगपति ! मेरे विशाल !

कितनी मणिया लुट गईं ? मिटा
कितना मेरा वैभव अशेष !
तू ध्यानमग्न ही रहा, इधर
वीरान हुआ प्यारा स्वदेश।

किन द्रौपदियो के बाल खुले
किन-किन कलियो का अन्त हुआ,
कह हृदय खोल चित्तौर ! यहाँ
कितने दिन ज्वाला वसन्त हुआ ?

पूछे, सिकता कण से हिमपति !
तेरा वह राजस्थान कहाँ ?
वन वन स्वतन्त्रता दीप लिये
फिरने वाला बलवान कहाँ ?

तू पूछ अवध से राम कहाँ ?
वृन्दा ! बोलो, घनश्याम कहाँ ?
ओ मगध ! कहाँ मेरे अशोक ?
वह चन्द्रगुप्त बलधाम कहाँ ?

पैरों पर ही है पड़ी हुई
मिथिला भिखारिणी सुकुमारी,
तू पूछ, कहाँ इसने खोई
अपनी अनन्त निधियाँ सारी ?

री कपिलवस्तु ! कह बुद्ध देव
के वे मङ्गल उपदेश कहाँ ?
तिब्बत, इरान, जापान, चीन
तक गये हुए सन्देश कहाँ ?

वैशाली के भग्नावशेष से
पूछ, लिच्छवी शान कहाँ ?
ओरी उदास गण्डकी ! बता
विद्यापति कवि के गान कहाँ ?

तू तरुण देश से पूछ अरे
गूँजा यह कैसा ध्वंस राग ?
अम्बुधि-अन्तस्तल बीच छिपी
यह सुलग रही है कौन आग ?

प्राची के प्राङ्गण बीच देख
जल रहा स्वर्ण-युग अग्नि-ज्वाल,
तू सिंहनाद कर जाग तपी

मेरे नगपति ! मेरे विशाल !

रे रोक युधिष्ठिर को न यहाँ,
जाने दे उसको स्वर्ग धीर,
पर, फिरा हमें गाण्डीव-गदा
लौटा दे अर्जुन-भीम वीर,

कह दे शंकर से, आज करें
वे प्रलय नृत्य फिर एक बार।
सारे भारत में गूँज उठे
'हर हर बम' का फिर महोच्चार !

ले अँगड़ाई, उठ, हिले धरा,
कर निज विराट स्वर में निनाद,
तू शैलराट् ! हुंकार भरे
फट जाय कुहा, भागे प्रमाद।

तू मौन त्याग कर सिंहनाद,
रे तपी आज तप का न काल!
नवयुग-शंख ध्वनि जगा रही,
तू जाग, जाग, मेरे विशाल!

मेरी जननी के हिम किरीट!
मेरे भारत के दिव्य भाल!
नवयुग शंख ध्वनि जाग रही
जागो नगपति! जागो विशाल!

—रामधारीसिंह 'दिनकर'
जन्म १९०९

सितारे कूद जायेंगे

जुड़े बैठे हाथियों की पंक्ति-सी
आकाश - धरती के अँधेरों बीच
व्योम का उजला, अवनि का गहन किंचित्।
और भी गहरे तिमिर की रेख - धौलाधार!

इधर के टीले-पहाड़
रात के गहरे अँधेरे पानियों में डूब गुम हैं।
झील-सी यह लग रही है वाथरी[1]
गहरे धुएँ की,
या घने नीलाभ जल की
साँझ, काले बादलों ने छीन ली हो आभ जिसकी।
बत्तियाँ बालून[2] की हैं, बिम्ब ज्यों
नभ के सितारों का,
इशारों का।
शुक्र गज की पीठ पर बैठा जमा
ज्योति की पिचकारियाँ सी फेंकता है।
झुक रहे हैं सप्त ऋषि 'उतरो हमें भी बैठने दो!'
और अनगिन तारकों में होड़—बैठें
हाथियों की पीठ पर!
लग रहा है—
अभी यह गजपंक्ति उट्ठेगी
सितारे कूद जायेंगे!

—उपेन्द्रनाथ 'अश्क'
जन्म १९१०

---

१ डलहौजी का एक नाला जिसके नाम से घाटी प्रसिद्ध है।
२ डलहौजी छावनी।

पर्वत तटी

नाना तरु-बेलि-लतामय पवत पर निजन वन था,
निशि बसती थी भुरमुट में वह इतना घोर-सघन था।
पत्तो से छन छन कर थी आती दिनकर की लेखा,
वह भूतल पर बनती थी पतली सी स्वर्णिम रेखा।
लोनी लोनी लतिका पर अविराम कुसुम खिलते थे,
बहता था मारुत, तरु दल धीरे धीरे हिलते थे।

चह-चह-चह फुदक फुदक कर डाली से उस डाली पर,
गाते थे पक्षी होकर न्योछावर वनमाली पर।
चर कर पगुराती मा को, दे सींग ढकेल रहे थे,
कोमल कोमल घासो पर मृगछौने खेल रहे थे।
अधखुले नयन हरिणी के मृदुकाय हरिण खुजलाते,
झाडी में उलझ उलझ कर बारहसिंघे अकुलाते।

चीते नन्हें शिशु ले ले चलते मन्थर चालो से,
क्रीडा करते थे नाहर अपने लघु लघु बालो से।
झरनो का पानी ले कर गज छिडक रहे मतवाले,
माना जल बरस रहे हो सावन घन काले काले।

—श्यामनारायण पाण्डेय
जन्म १९१०

दूर्वाचल

पार्श्व गिरि का नम्र, चीड़ों में
डगर चढ़ती उमंगों सी।
बिछी पैरों में नदी ज्यों दर्द की रेखा।

विहग - शिशु मौन नीड़ों में
मैंने आँख भर देखा।
दिया मन को दिलासा - पुनः आऊँगा।
(भले ही बरस-दिन-अनगिन युगों के बाद!)

क्षितिज ने पलक-सी खोली,
तमक कर दामिनी बोली—
'अरे यायावर! रहेगा याद?'

—सच्चिदानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय'
जन्म १९११

क्योंकि हम सब जहा भी हैं
अब मोर्चे पर ह
एक ही धुन है एक ही ध्यान है
एक ही ज्ञान
कि हम उत्तुग हिमालय है
और हम उत्तर को बढ रहे है
यह धरती करवट ले रही है।

सुनो माओ
तुम भी अगर कवि हो
तो सोचो
मंदिर है प्रत्येक मनुज धरती पर
उसकी धरती ही उसकी वेदी है
तुम किसको गिरा रहे हो सोचो
अपनी धरती की मिट्टी का नास कर रहे हो
हमारी घाटिया में
जाओ बहुत खो चुके
जन मरजाद
अब चेतो
चेतो
चेतो
अब भी समय है।

शिव-लोक में चीनी दीवार न उठाओ
वहाँ सब कुछ गल जाता है
सिवाय सच्चाइ की उज्ज्वलता के।

उसी श्रद्धा से आओ
जिससे अब तक सदियो से आते रहे हो
नही तो
नही तो
असत्य कही नही ह
तुम कही न रहोगे ।

शक्ति आकार में नही है
सत्य में है
हमारी शक्ति
सत्य की विजय
उसी एक धारणा की विजय है जो आज
सचेत रूप में
हम ह
याद रखो
सत्यमेव जयते ।
सत्यमेव जयते ।
सत्यमेव जयते ।

—शमशेर बहादुर सिह
जन्म १९११

बादल को घिरते देखा है

अमल धवल गिरि के शिखरो पर बादल को घिरते देखा है।
छोटे - छोटे मोती जैसे अतिशय शीतल वारि - कणो को
मानसरोवर के उन स्वर्णिम - कमलो पर गिरते देखा है।
तुग हिमाचल के कधो पर, छोटी - बडी कई झीलो के,
श्यामल, शीतल, अमल सलिल में
समतल देशो से आ - आकर
पावस की ऊमस से आकुल,
तिक्त मधुर बिस-तन्तु खोजते, हसो को तिरते देखा है।

दुगम बर्फानी घाटी में
शत - सहस्र फुट उच्च शिखर पर
अलख नाभि से उठने वाले
अपने ही उन्मादक परिमल
के ऊपर धावित हो - होकर
तरल तरुण कस्तूरी मृग को अपने पर चिढते देखा है।

शत - शत निर्झर - निर्झरिणी - कल
मुखरित देवदारु - कानन में
शोणित - धवल भोजपत्रो से छायी हुई कुटी के
रग - बिरगे और सुगन्धित फूलो से कुन्तल को साजे,
इन्द्र नील की माला डाले शख-सरीखे सुघड गले में,
कानो में कुवलय लटकाये, शतदल रक्त-कमल वेणी में,
रजत रचित मणि-खचित कलामय पानपात्र द्राक्षासव पूरित,
रखे सामने अपने-अपने लोहित चन्दन की त्रिपदी पर,
नरम निदाग बाल कस्तूरी-मृग-छाला पर पल्थी मारे,
मदिरारुण आँखो वाले उन उन्मद किन्नर किन्नरियो की,
मृदुल मनोरम अगुलियो को वशी पर फिरते देखा है।

—नागार्जुन
जन्म १९११

आज पहली बार

१

आज पहली बार जग ने
नमितशिर देखा
नगाधिप को।
विपयय। — आज जग ने
अजरता की झुर्रियाँ देखी।
व्यतिक्रम। – आज पहली वार देखा
शिशिर में यह द्रवण
हिम के हृदय का।

चकित, विस्फारित दृगो से
देखता है स्तब्ध हो ससार
पहली वार
पार्थिव शुभ्रता के वक्ष पर अभिनीत
मानव मान्यताओ का विवतन,
सत्य का सहार
शिव के हास की अट्टालिका में।

२

पहेली है जगत की दृष्टि में,
पर दश्य है कुछ और ही इस ओर—
पहली वार
नगपति ने नमित कर शीश
देखा स्नेह से उस भूमि को
जो छत्रछाया में पली युग-युग अभय, आश्वस्त।

पहली बार
अवसर दे रहा है आज हिमाद्रि उदार
भारतभूमि को प्रतिदान का!

× × ×

कैसा विपर्यय? किस नियम का है व्यतिक्रम
—सहज मानव धर्म में?

—बालकृष्ण राव
जन्म १९१३

कौसानी[1]

यह नई धरा, आकाश नया,
यह नया लोक मिल गया मुझे,
थी आत्मा जिसके हित अशान्त
वह शान्तलोक मिल गया मुझे।

कोसी की हरित भरित घाटी
करती है सुख से शान्त शयन,
प्रहसित सकुचित गात शोभित
नव-धान-वसन परिधान पहिन।

सिरहाने रक्खा शीश-मुकुट
वह कहलाता है कौसानी।
जिसके कारण कहलाती वह
कूर्मांचल भर की पटरानी।

यह गिरि गिरिजा कौसानी की
सामने पडा शिव का पडाव,
कौसानी और हिमालय में
तिल भर न परस्पर उर दुराव।

ज्यों हरे रेशमी दामन सी
घेरे ऊपर घाटियाँ पडी,
कुछ मुक्त नील अलकों सी
जिन पर पडी हुई है निर्झरिणी।

नन्दादेवी के तुंग शिखर से
देख देख शोभा शंकर
हो गए हिमालय में विजडित
तज ताण्डव नर्तन प्रलयंकर।

---

१ अल्मोड़े के निकट रम्य पर्वतीय स्थल

घिर आए उमड घुमड वादल,
पवत प्रदेश में ऋतु पावस।
ढँक गया व्योम, छिप गया सूय
हो गइ दिवस में ही मावस।

कर साय-साय चल पडी पवन,
कापा पल में पर्वत का वन,
पशु पक्षी खोज खोह्-कोटर
भागे ले धुप धुप करता मन।

कातर हो तुरत कराह उठे
वे ऊँचे ऊँचे बटे चीड,
हिल गए बाँज औ' देवदारु
उडती चिडियाँ तज ध्वस्त नीड।

कड-कड चड-चड टूटते पेड
करती कौसानी शक्ति-नृत्य,
विद्युत् से प्रतिबिम्बित, नर्तित
छाया प्रेतो से दास-भृत्य।

दे पद-प्रहार घनाद - ताल
नाचती मत्त काली कराल,
लो, तडक गया नभ इस्पाती
नेत्रा से निकली तडित - ज्वाल।

*   *   *

पल में हो गइ प्रतिष्ठित अन
वह शान्तिमूर्ति तापसी उमा,
पल में आकाश धरा निखरे
बिखरी दश दिशि स्वर्गिक सुषमा।

बन गया हिमालय हेमकूट,
घन स्वर्णपत्र से ठौर ठौर,
आती है हँसमुख साँझ उषा-
ज्यों ओढ़े रंग वाली पिछौर।[1]

फिर झिल्ली की झनकार हुई
कठफोड़े को संगीत मिला,
कुहकी निज पके हुए स्वर में
उत्तराखण्ड की पिक प्रमिला।

नभ ज्यों योगी का निर्मल चित,
है धरा मौन ज्यों विनत भक्ति,
बापू के श्री मुख से निकला—
'सत्कर्म, अहिंसा, अनासक्ति।'[2]

—नरेन्द्र शर्मा
जन्म १९१३

---

१ पीली जमीन पर लाल छींट की ओढ़नी, जिसका अल्मोड़ा प्रदेश में बहुत चलन है।

२ 'अनासक्ति-योग' के नाम से गीता का भाष्य, गांधी जी ने कौसानी ही में किया।

हर कदम पर प्रकृति का परिवेश दिव्याकार,
हर कदम पर नयन मोहन सृष्टि का शृंगार।
खड़ा गर्वोन्नत लिए शिर एवरेस्ट विशाल,
हिमाच्छादित गगनचुम्बी चोटियाँ विकराल।

कहीं सुंदर और परतीले उनीले मेघ,
कहीं नन्हें हिमकणों से बने कुंतल मेघ।
कम घने भी, अति घने भी, लाल पीले मेघ,
शीघ्र ही संयुक्त होने, विलग होते मेघ।

कभी बर्फीले शिखर से उफन उठती भाप,
वायु मण्डल पर चढ़ाती सघनता के चाप।
कभी जल-सीकर हिमानी वेग से एकत्र,
गगन में घिर फैल जाते दौड़ कर सर्वत्र।

घिरे रहते टपक पड़ते घुमड मूसलधार,
परों में या धारियों में शुभ्र विपुलाकार।
कभी कुंजर कुंज मन्थर पवन से सम्पृक्त,
स्वर्ण-मृग-से चौकड़ी भरते उछलते दृप्त।

ठोस नीचे और ऊपर कुण्डलित घन गोल,
शून्यता का नील अम्बर फरफराता डोल।
कपिल पिंगल केश खोले शिखर शुण्डाकार,
कर रहे दुर्गम्यता का शून्य में प्रस्तार।

गिरि-शिखर पर अनुमाणों का मुकुट छविमान,
दहकता आदर्श का वह क्षितिज गरिमावान।
गड़गड़ाता बढ़ रहा टक्कन धरा को तोड़,
पवनपसी ग्लेशियर वह पर्वतों को फाड़।
गति-विरोधी कण्टकों, लघु कंकड़ों को लील,
वज्रदन्ती तीक्ष्णता से पथ बघुर छील।

चल रहे शनि, शुक्र, वृश्चिक, वृहत् उल्का पिण्ड,
तुरंग पुच्छल, लुब्ध लुब्धक, गोल पृथ्वीपिण्ड।
चल रहे पल, पहर, घण्टा, घड़ी, निशि, दिन, मास,
वर्ष युग के यान चलते राशि चक्र प्रकाश।

—राम इकबाल सिंह 'राकेश'
जन्म १९१३

कालिदास से

तरल तारकों के मोती का सार तुम्हारी वाणी,
कोटि कोटि प्यासे हृदया की तृप्ति बनी कल्याणी।
महादेश के ज्योति पुज तुम सपनो के वरदानी,
नाम तुम्हारा सुनते ही उठता मस्तक अभिमानी।

तुम भारत की मुक्ति और वैभव के युग के दाता,
तुम कमलो से भरे महा सागर से सुख निर्माता।
हुइ सस्कृति सफल समूची ओ कवि तुमको पाकर,
दीघ साधना तप के फल सम देव गिरे धरणी पर।

द्रवित विवश नभ ने ले उच्छ्वास भूमि को देखा,
मौन तप्त जीवन में जिसके खिची अमृत की रेखा।
खीच ले गए थे रस भू का किरण तीर दिनकर के,
तुम सावन के प्रथम मेघ से तब अम्बर से झाके।

हिमकिरीटिनी मा के भाल बिन्दु तुम दीप्त उजागर,
मरतुअचला छवि शतदल विलासिनी की रस गागर।
अम्बर रूप पुज अविनाशी।

ओ अनन्त यौवन के स्वामी अलकपुरी के वासी।

—रामेश्वर शुक्ल 'अचल'
जन्म १९१५

आज देश की मिट्टी बोल उठी है।

यह वह मिट्टी जिसमें उपजे
ब्रह्मा, विष्णु भवानी।
यह वह मिट्टी जिसे
रमाए फिरते शिव वरदानी।

यह तेरी सभ्यता संस्कृति
इस पर ही अवलम्बित,
युगों युगों के चरणचिन्ह
इसकी छाती पर अंकित।

मुक्ति इसी की मधुर कल्पना
दर्शन नव मूल्यांकन,
इसके कण कण में उलझे हैं
जन्म - मरण के बन्धन।

रोमपुलक वनराजि, भावव्यंजन
कल कल ध्वनि निर्झर,
घन उच्छ्वास, श्वास झंझा
नव-आ-उभार गिरि-शिखर।

सिन्धु चरण धोकर कृतार्थ
अचल थामे हिम-प्रवर।
चन्द्र-सूर्य उपकृत निशिदिन
कर-किरणों से छू छू कर।

कालिदास से

तरल तारकों के मोती का सार तुम्हारी वाणी,
कोटि कोटि प्यासे हृदयों की तृप्ति बनी कल्याणी।
महादेश के ज्योति पुंज तुम सपनों के वरदानी,
नाम तुम्हारा सुनते ही उठता मस्तक अभिमानी।

तुम भारत की मुक्ति और वैभव के युग के दाता,
तुम कमलों से भरे महा सागर से सुख निर्माता।
हुई संस्कृति सफल समूची ओ कवि तुमको पाकर,
दीर्घ साधना तप के फल सम देव गिरे धरणी पर।

द्रवित विवश नभ ने ले उच्छ्वास भूमि को देखा,
मौन तप्त जीवन में जिसके खिंची अमृत की रेखा।
खींच ले गए थे रस भू का किरण तीर दिनकर के,
तुम सावन के प्रथम मेघ से तब अम्बर से झाँके।

हिमकिरीटिनी माँ के भाल-बिंदु तुम दीप्त उजागर,
मरुतअचला छवि शतदल विलासिनी की रस गागर।
अक्षर रूप पुंज अविनाशी।

ओ अनंत यौवन के स्वामी अलकपुरी के वासी।

—रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'
जन्म १९१५

आज देश की मिट्टी बोल उठी है।

यह वह मिट्टी जिससे उपजे
ब्रह्मा, विष्णु, भवानी।
यह वह मिट्टी जिसे
रमाए फिरते शिव वरदानी।

यह तेरी सभ्यता संस्कृति
इस पर ही अवलम्बित,
युग युग के चरणचिन्ह
इसकी छाती पर अंकित।

मुक्ति इसी की मधुर कल्पना
दर्शन नव मूल्यांकन,
इसके कण कण में उलझे हैं
जन्म - मरण के बन्धन।

रोमपुंज वनराजि, भावव्यंजन
कल कल ध्वनि निर्झर,
घन उच्छ्वास, श्वास झंझा
नत-आ-उभार गिरि-शिखर।

सिंधु चरण धोकर कृतार्थ
अचल थामे हिम-शिखर।
चन्द्र-सूर्य उपकृत निशिदिन
कर-किरणा से छू छू कर।

अंतस्ताप तरल लावा
करवट भूचाल भयंकर,
अँगड़ाई कल्पांत
प्रणय प्रतिद्वंद्व प्रथम मन्वन्तर।

किस उपवन में उगे न अंकुर
कली नहीं मुसकाई,
अन्तिम शांति इसी की
गोदी में मिलती है भाई!

—शिवमंगल सिंह 'सुमन'
जन्म १९१६

रसमय हिमालय

थी पावती धरती जलती तप से निजल,
था महाकाल ज्यों समाविस्थ निर्द्वन्द्व अचल,
सहसा झकृत अनग-धनु से शर छूट पड़े,
वन पचवाण के पुष्प बरसते थे बादल।

क्षण - भर घाटी की भँवरो में कर आवतन,
क्षण - भर शिखरों के उपलो का कर आलिगन,
इस महाशून्य की डाली से झर - झर शाश्वत्
बह रहे पवन की धारा में ये मेघ-सुमन।
क्षण बन दुकूल शृङ्गो का, क्षण परियो का पर,
बन देवदारु का वलय, वनो के बीच विखर,
अधखुले नयन - नभ में तिर तिर बनते मिटते
यह कामरूप घन दिवा - स्वप्न के फूल सुघर।

किसने फैलाया यह हरीतिमा का दुकूल
बँध पा न रहे जिन में पारद के जलद फूल।

—शम्भूनाथ सिंह
जन्म १९१७

बरफ का चिराग़

हिम के सफेद दीपक की लौ अब हुइ लाल
सदियो से जमी हुई मिट्टी बन गई ज्वाल।

यह कमल धरा का बरफीला
यह झील कटोरा चमकीला
ठडे खेतो का कुसुमबदन
केसर की झाइ से पीला
लालिम चिनार के पेड
घाटियो के प्रहरी
नभ के पर्दे पर
रेखा-छाह छपी गहरी।

उठ रही शैल मालाए
सदियो से जवान
हर मजिल खिची हुइ है
फूलो की कमान।

गोरे मुख पर उडता है
हल्का पवन चीर
है स्वर्ग एक कल्पना
सत्य है काश्मीर।

सूरज सोने का फूल
चाद हिम का चिराग
उस दूध घुली मिट्टी से
अब उठ रही आग।

बनकर शमशीर उठी जनता
बजता परबत का नक्कारा
नदिया बिजली बन उतर पडी
हो गया लाल ध्रुव का तारा।

धरती के यह जन-फूल उठे बनकर मशाल
हिम के सफेद दीपक की लौ जब हुइ लाल।

इन चदन की सीमाओ में
आ गया एक दुर्धप नाग
पड गया बरफ के आचल पर
मासूम खून का लाल दाग़
यह महादेश का शुभ्र कलश
लहराया इस पर नव चेतन
जो जीवन मृत केंचुल सा था
वह आँखें खोल हुआ चेतन

गिरि में निमग्न मनु की आत्मा
जब उठ आइ कर सिंहनाद
पथ की रज लेने उतर पडा
सिंहासन से सामतवाद।

आघात हुआ यह
अचल हिमाचल के तन पर
जन उन्नायक प्रलयकर
शकर के मन पर।

जो अग्नि ला रही है जग में
नूतन कृतात
वह कर देगी यह विष भी
भस्मीभूत शात।

बस इसीलिए झुक सका नही यह दग्ध भाल
हिम के सफेद दीपक की लौ अब हुइ लाल।

—गिरिजा कुमार माथुर
जन्म १९१८

सुनोगे ?

सुनो,
चीड के सनसनाते हुए पेड,
मेरी कहानी सुनोगे ?
यहा तुम खडे हो
गगन में तने,
सिर उठाये हुए गर्व में,
गहराइयाँ झाकते से अतल की,
उधर सामने चोटियाँ है,
शिखर,
जो बरफ से घिरे है,
जो बादलो का हृदय चीर खुलते
कली से
अछूते, अचुम्बित—
शिखर जो अडिग है, अगम है, महत् है,
मनुज के अमिट स्वप्न - से,
लालसा - से
शिखर ये तुम्हारे सखा है युगो के,
पहली सुबह की किरन मुस्करा कर,
सदा छेड जाती इन्हें भी, तुम्हें भी।

ओ चीड के सनसनाते हुए पेड
मेरी कहानी सुनोगे ?
कहूँ मैं ?
तुम्हें भी विकल जिदगी की कथा सब
सुना दू ?
कि म लाँघना चाहता था अगम को

तडप थी कि
बौने करो को बढाकर पकड लू
अभी चाँद - सूरज,
कि मैं चाहता था सभी कुछ,
बहुत-से बडे स्वप्न थे
इस हृदय में,
नही थी, नही शक्ति ही बस नही थी
उठे बाहुओ में,
तडप थी बहुत किन्तु क्षमता नही थी—
इसी से गरुड के सभी पख
टूटे हुए है,
विगत स्नेह की स्निग्ध हरियालियाँ
आज
झुलसी हुई है,
खडिता मूर्तिया है,
ओ चीड के पेड,
मैं हूँ मरुस्थल,
मैदान जलता हुआ-सा,
पडा जो शिखर के चरण से बहुत दूर,
जलता, सुलगता,
अभी रात भी सामने घाटियो में
अकेली पडी
गिन रही तारिकाएँ,
चुप - चुप अंधेरा बिछा है
उतरती हुई मौन पगडडियो पर।

तुम्ही बस,
किसी याद में जग रहे हो
मुखर हो,

सागर गरजता किसी बेकली का तुम्हारे हृदय में—
इसी से अभी चाहता था सुनाना
तुम्हें मैं—
सुनोगे?
ओ सनसनाते हुए चीड के पेड!
मरुभूमि की भी कहानी सुनोगे?

—नेमिचन्द्र जैन
जन्म १९१९

हिमालय से

वहुत दिनो के वाद
हिमालय तुझे देखकर
ऐसा लगता है
जैसे कोइ अपना आत्मीय मिल गया।
हृदय कमल में
आकुल-व्याकुल
वदी सौरभ आज मुक्त हो
देख-देख तेरी उज्ज्वलता
फैला दिग्दिगत में सारे
स्वय सिद्ध अस्तित्व पा गया।
तेरे ये काले घुघराले
अलक जाल नव वादल वाले
गध - अध नित नभ में पुलकित
मेरे ही सौरभ से सुरभित
इतना भी तू और जान ले
तेरे सुख की चिर समाधि यह
मेरे नव चेतन से मडित
यद्यपि तू विराट में सीमित।
नभ करता शृगार
भाल में चदन कुमकुम रोली
नव प्रकाश की नव विकास की
नव जागृति की नवयुग-सम्मत
विहग-विहग की वोली
उदयाचल को किरणमाल दे
नित्य प्रात में
सानु शीश पर स्वण मुकुट पहनाकर।

और रात में
स्नेह-सिक्त हो
चाँद विहँसता
रस के स्वर बस बातें करता
किरण कला के साथ
मित्रता के फलाता हाथ
माधुरी से नहलाता
तुझे सुलाता, तेरा मन बहलाकर
तुझसे किसकी समता!

करुणामय!
तेरी करुणा की
स्नेहशीलता की द्रवता की
लहरें यमुना-गगा
प्रकृति परी यह पाणि पल्लवा
तेरे जल से सिंचित
अतस्तल की तेरे धडकन
शत शत जलधि तरगा!

राष्ट छत्र तू
ऊर्ध्व मूल है मेरी इस माटी का
मुझे याद ह
नान ध्यान सब
तेरे घर घाटी का
बहुत से है तेरे उपकार
मजलता के अक्षय भाण्डार!

किन्तु देखा मीत
आततायी की कलुषित जीत

प्रीति पर भीति चढी है
पाप युद्ध के जयघोषो की
डफली जीवित मनुज चम से
फूली और मढी है।

शिखरो का उपहास
चतुर्दिक फैला हाहाकार
पाशविक बल का पारावार
अरे तू अब भी साधे मौन
विस्मृति के इन छल-पल्नो में
तुझे झुलाता कौन ?

यही समय
तू सँभल खडा हो
महा गगन को थाम शीश से
अडिग चरण युग धरती पर धर
फैला निज प्रलम्ब बाहा को
अहे हिमालय करुणालय तू
अखिल विश्व का आलिंगन
हृदय लगाकर शीतल कर दे
ज्वालामय दानव चाहो को।

बढे दनुज सिर चढे नाचते
सैन्य-शक्ति की माप जाचते
मानवता बिल्लाती
शकर के शुभहास
सृष्टि-सरक्षण तेरी थाती।

यह कुमार सभव की बेला
छोड समाधि जाग अलबेला

सती वरण कर शिव संन्यासी
उठ कल्याणों के कैलाशी
भारत में चल रहा आज फिर
देवासुर संग्राम
तुम्हारा युग युग का अवधान
देव-संरक्षण का अभियान।

शीघ्र सजग हो
बनो कर्मरत
अब क्यों, कैसी देरी
आज नयी हो मेरी तेरी
शक्ति-भक्ति की मंगल फेरी
दोनों की पहचान
जाग उठ, जाग-जाग हिमवान!

—गंगाप्रसाद पाण्डेय
जन्म १९१८

तुम से पावन और उच्च कुछ भी पृथ्वी के
पास नही था, इसीलिए पूजन करने की
अभिलापा जव हुइ उसे प्रभु के चरणा की,
तुम्हें उठा हाथो में कमलो की माला-सी,
भूमि लग्न वह हुइ भक्ति से गद्गद होकर।

उसी भाति तुम स्वच्छ और निश्चल आँखो से
देख रहे हो स्वर्ग-लोक की ओर ज्योति में,
जहाँ वास करते प्रभु पृथ्वी के परमेश्वर,
प्रभु आये या नही ग्रहण करने को तुम को,
स्वग-लोक हो अथवा नही जहा वह रहते,
पर अपनी दढ भक्ति और निश्चल श्रद्धा से,
स्वग-लोक का निशि-दिन चिन्तन करते करते
तुम वन गये स्वर्ग से सुदर लोक स्वय ही।

तापस

विखरा जटा खडा वह तापस, युग-युग से पवत के ऊपर!

पूव दिशा की ओर चमकता उसकी रजत जटा पर दिनकर,
पश्चिम में बैठी है रजनी उसी जटा के नीचे छिप कर,

पूव दिशा में उमड रहे हैं उसकी जटा छोडकर निझर,
पश्चिम में उसके बालो में लिपट रहे हैं व्याल भयकर,

पूव दिशा से अमृत बरसता, पश्चिम से विष झरता झर झर,
कटि पर उसके लहराते घन, चूर चूर तारे मस्तक पर!

—स्व० चद्रकुवर वर्त्वाल
१९१९—१९४७

पस्

हिमालय के तव आँगन मे

झील मे लगा बरसने स्वण,
पिघलते हिमवानो के बीच,
खिलखिला उठा दूब का वर्ण,
शुक छाया में सूना कूल, देख
उतरें थे प्यासे मेघ,
तभी सुन किरणाश्वा की टाप,
भर गयी उन नयनो मे वात,
हो उठे उनके अचल लाल,
लाल कुकुम में डूबे गाल,
गिरी जब इन्द्र दिशा से देवि !
सोम-रजित नयनो की छाँह
रूप के उस वृन्दावन में !

व्योम का ज्यो अरण्य हो शान्त,
मगी शावक-सा अचल याम,
तुम्हें मुनि-कन्या-सा घन क्लान्त
तुम्हारी चम्पक बाहो बीच,
हठीला लेता आखें मीच,
लहर की स्वण कमल की नाल,
ममक कर पकड रहे गज बाल,
तुम्हारे उत्तरीय के रग,
किरण फैला आती हिम-शृग,
हँसी जब इन्द्र दिशा में देवि !
सोम रजित नयनो की छाह,
मलय के चदन कानन में !

उपस्

अश्व की वल्गा लो अब थाम,
दिख रहा मानसरोवर कूल ! !

गौर कंधों पर ग्रीवा डाल,
पूछते हंसों के ये बाल,
स्वर्ग से दिखती है यह झील,
हिमालय लगता होगा पाल।
तुम्हें वे यक्ष पत्नियाँ देख, करेंगी गीत सुना अनुकूल !
तराई वन जब कर लो पार,
वहीं है नगर ग्राम औ' खेत,
यहीं तट की मृदु बाहें डाल,
सो रही होगी यमुना रेत,
साँझ हम गंगा-जल से किरण कलश फिर भर देंगे इस कूल ! !
वहीं क्षिप्रा में श्रद्धा एक
अर्घ्य दे गुनती होगी श्लोक,
रंगमय एक लहर कर दे कि
माँग भर देना रथ को रोक,
गगन का श्रेष्ठि खड़ा है नील बाँह में लिए भूर का भल ! !
पुष्ट चिटटे वृषभों को देख
लगेगा दिन बन आया बैल,
चीर भूमा का उर आधार,
उगे सीता में जीवन बेल,
पुष्पवती पृथ्वी को देना धाम, हँसे अचल के चावल फूल ! !

—नरेश कुमार मेहता
जन्म १९२४

हिम शिखर, निर्झर, नदी-पथ, चीड-वन—
मुक्त मन के लिए बंधन हो गये।
दृश्य से छन कर समाये आंख में,
आंख से मन में बसे, मन हो गये।

नमन मेरा हिम-जलद-अभिषिक्त शृंगों को,
नमन मेरा शान्त सध्यातीत रंगों को।
इंद्रधनु के गुच्छ के गुच्छ जिन पर तैरते रहते,
नमन मेरा अलकनंदा की तरंगों को।

आँख भर देखा कहाँ आँख भर आयी।

अटकी ही रही दीठ।
वह हिमगिरि माल ढीठ।

मेरे ही आसू के झीने पट ओट छिपी,
देखता रहा जी भर दी नही दिखायी।

आँख भर देखा कहाँ, आँख भर आयी।

पक्ति - बद्ध देवदारु,
रोमिल, दल्थ, दीघ, चारु,

चदन पर श्यामल कस्तूरी की गध सी,
जल्दो की छाया हिमशृगो पर छायी।

आँख भर देखा, कहाँ आँख भर आयी।

शिखरो के पार शिखर,
बिंध कर दृग गये बिखर,

घाटी के पछी सी, गहरे मन में उतरी,
बदरी-केदारमयी मरकत गहरायी।

आँख भर देखा कहाँ, आँख भर आयी।

मैं वह क्यों नहीं हुआ

जिसने
हिम शिखरों की रक्षा में
पहला आघात सहा।
जिसके घायल तन से
चौड़ी चट्टानों पर
प्रथमवार
किसी गम सोते सा
रक्त बहा।
मैं वह क्यों नहीं हुआ।

—जगदीश गुप्त
जन्म १९२४

हिमालय की याद में एक पत्र

सुनो
म जानता था एक दिन देखे हुए वे
वन, नदी, पर्वत
बडी तर्रार सैलानी हवा में झूमते जगल
दुपट्टे की तरह उडते हुए निर्झर
अनेको घाटियो के पार से आता हुआ वह स्वर पपीहे का,
अभी जो उड गया है बेतहाशा बरस कर ओला भरा बादल,
कटोरे की तरह चारो तरफ से घेरती सी चोटियाँ तिरछी
जरा से रास्ते के लिए सब कुछ तोडने वाली नदी की
तेज, लापरवाह, धाराएँ
ढलानों पर तराशी खेतियाँ ऊँची दुकानो सी
अचानक झोपडे, फिर गाँव, फिर कुछ लोग परिचित से
अकेली राह को सहसा जिला कर छोड देता जगली पाटल
ठहरने के लिए मजबूर करता पत्थरो मे फूटता पानी
बरफ उजली, बरफ नीली,
बरफ मिट्टी मिली बेताब छाया में पिघलने को
बरफ बेदाग ढाला पर लहरियादार पानी सी
बरफ वह आखिरी, आजाद
ऊँची चोटिया पर दूर मञ्जिल सी
कि जिसको देख कर हम देर तक खामोश बठे थ

सभी कुछ याद आयेगा
कहेगा हम अभी भी ह,
जहाँ से तुम उतर कर, डूब कर, खामोश होकर
लौट आये थे
उसी फैले हुए बेलौस पल में हम अभी भी ह,

जिसे तुम कह नहीं सकते महज महसूस करते हो
उन्हीं लाचार सी अनुभूतियों में हम अभी भी हैं,
अगर यों सिर्फ आँखें फेरने से काम चल जाता
तो फिर ऐ दोस्त, जी लेना बहुत आसान हो जाता
मगर हम और हम जैसे
कि जिनसे ज़िन्दगी की बात का मतलब निकलता है
महज आसान रस्तों में भुलाए जा नहीं सकते
तुम्हें फिर याद आएँगे!

बहुत बेचैन है फिर पैर उस सहरानवर्दी को,
तुम्हारे साथ में बीती फिज़ाएँ याद आती हैं
भुजाएँ फैल कर फिर भेंट लेने को तड़पती हैं
सुनो फिर बर्फ में भीगी हवाएँ याद आती हैं।

—विजयदेव नारायण साही
जन्म १९२४

घाटी का बादल

पतला पडने लगा
दृष्टिरोधी वह परदा,
महसा मुखर हो उठी वह निश्शब्द शून्यता।
दीखे नही,
मगर चीडा ने सन्-सन् कर मदमाती गन्धो वाले
पवन-सँदेसे भेजे,
झुरमुट में सहमी चिडियो ने
दबे कण्ठ से मुझे पुकारा,
दूर कही सुन पडा पहाडी गाने का स्वर।

थोडा-सा विश्वास लौट कर आया मुझ में।
दीख नही पडते ह,
पर इस गहन कुहा में
कितने ही जगली रास्ते आते-जाते
पथिका से अब भी सजीव ह,
अपराजित ह जिनमें चलने की आकाक्षा।

दीख नही पडता है सूरज
पर दो शिखरो बीच झर रही
दिव्य ज्योति-सी धूप धुइली।
नदियाँ नीचे चमक उठी रुपाडोरी-सी,
और दूधिया शीशे म से
झलक उठे ह वृक्ष बाँज के, पुल लोहे के,
धीरे-धीरे परतें कटने लगी धूम की
यहाँ-वहाँ पर

पिघले सोने के पानी-सी
धूप टपकने लगी
गाँव खिल गये फूल से।

बादल जैसे आया वैसे लौट गया है
केवल कुछ बादल के पीछे छूटे टुकड़े
छायादार झाड़ियों में विश्राम कर रहे
जैसे धौरी-उजली गायें।

एक अकेला चंचल बादल
चाँदी के हिरने-सा घाटी में चरता है।

—धर्मवीर भारती
जन्म १९२६

वन्दी न हिमालय हुआ, शिव-शिखर गिरा नही,
आक्षोद - सरावर में विदेश - विधु तिरा नही।
भारती पहनती रही अनवरत हेम - हार,
भू - मानस में अवतीर्ण बीजवर्षी विचार!

*　　*　　*

भौगोलिक सुविशाल देश का
शुभ्र हिमालय-शिखर तुषार-किरीट,
शिव-सुगध से व्याप्त शान्ति-आकाश
चतुर्दिक
आत्म - ध्वनित ताण्डव का हास विलास!
कला - पावती की क्रीडाएँ हिमोद्यान में
आध्यात्मिक चापल्य शैल पर मेघ गान में
वादित वायु-मृदग शात कमनीय छटा पर
चमक-चमक उठती कविता रमणीय घटा पर
चन्द्र-तूलिका हिम - शिखरो को चित्रित करती
निशि के नील वक्ष से तारक - कलियाँ झरती
पग खोलकर देवदार - वन में अप्सरिया—
शिव-सरिता में भरती सुर हित इन्द्र - गगरियाँ!

भूपर - ऊपर किरण - चरण स्वच्छन्द तरगित
ज्यो जाग्रत प्राणात्मा करती मन को इगित
सलिल-गीत से गुजित गिरि - निर्झरिणी झर-झर
उडती पक्तिबद्ध शात विहगी रगबिरगी सस्वर!

उत्तर के समतल भूतल पर
गगा-यमुना सिधु-ब्रह्मनद सदा प्रवाहित
मध्य भाग में विन्ध्याचल की शैल - श्रेणियाँ,

उसके नीचे
दाक्षिणात्य की कलामयी वंकिम वसुधा पर
बहती प्रतिपल
महानर्मदा, ताप्ती, गोदावरी और कृष्णा, कावेरी।

इन नदियों के नीचे तीनों ओर
उद्वेग्नि अम्बुधि-प्रवाह उद्दाम
पश्चिम पारस,
पूर्व ब्रह्म-भू
इसी मानमन्दिर का भारत नाम !

—पोद्दार रामावतार 'अरुण'
जन्म १९२५

हिमालय

मूर्तिमान शिव के स्वरूप सा अचल अखण्ड योग में लीन
अक्षय शक्ति और श्री-सयुत चिर पुराण और नित्य नवीन,
करता आत्मा की विभूति से आलोकित समस्त ससार
करता निज आनन्द-स्रोत का रसधाराओ में विस्तार।

शक्ति शील सौन्दय तेज, श्री विक्रम का अपूव अवतार
मानवता के हित जीवन का महिमापथ आदश उदार,
राजित है उत्तर आशा में ध्रुव-सा पवतराज विशाल
आदि अन्त्य सम्राट विश्व का भारत का शाश्वत भूपाल।

करुणा ने निज स्वणकरो में लेकर रवि का मुकुट महान
उन्नत मस्तक पर पहनाया, गा जीवन के मगल - गान,
किया तेज का तिलक भाल पर भर उर में अपूव आह्लाद
रोम रोम में जगा प्रकृति के उत्सव का सुन्दर सम्वाद,

आतपत्र-सा रुचिर शीश पर राजित जिसके व्योम-वितान,
मसण रजत मेघो के मथर चँवर डुलाता मृदु पवमान,
देवदारु के दण्ड दीघ ले खडे शिखर कितने श्रीमान्,
सेवा में अविचल औ' उत्सुक, शरणागत राजन्य समान,

मधुर, मन्द, गम्भीर, स्वरा में निर्झर कर विरुदावलि गान,
करते कीर्ति प्रसार चतुर्दिक तोषित बदी वर्ग समान,
कोमल कर से दिव्य दिशायें वायु-व्यजन का मृदुल विलास
प्रति पल कर हरती भूपति का शासन जनित सकल आयास।

पूव और पश्चिम की पवत मालायें युग बाहु समान
बाधाओं के निगमगणो में बन कर सदा प्रबल व्यवधान,
मदुल अक में रही पालती सुन्दर शिशु-सा भारतवर्ष
दुर्बलता का शाप बन गया सस्कृति का रक्षित उत्कर्ष,

पाहन के कठोर अंतर से प्रकटित हो मृदुभाव समान
बनते कोमल कुसुम चरित का सुंदर और अपूर्व प्रमाण,
सन्ध्या के रंजित मेघों के बनकर रंजित चित्र विधान,
रंग-विरंगे पुष्प प्रान्त हैं इन्द्रधनुष के से उपमान।

हिम शिखरों की ज्योति समुज्ज्वल पावन करती जग की दृष्टि,
निर्मल अंतर में मुनियों के करती दिव्य भाव की सृष्टि,
निर्मल नीर भरी धारायें कर रसमय पर्वत के प्रान्त,
करती जीवन के गीतों से गुंजित वे निर्जन एकान्त।

राशि राशि रंजित फूलों से भरी घाटियों के विस्तार,
नन्दन के अवतार भूमि पर, फैलाते आमोद अपार,
मादक गन्ध गन्धमादन की भर अनन्त आमोद विभूति,
भवसागर के राजकमल की फैलाती सौरभ-अनुभूति।

सदा हरित जीवन के रस से देवदारु उन्नत सुविशाल,
तूफानों में अचल शैल-से जग के प्रहरी उन्नत-भाल!
भोज-वृक्ष, जिनके पत्रों पर अंकित पुराचीन इतिहास
डाल रहा है आज विश्व के जीवन पर निस्सीम प्रकाश!

कानन और कन्दराओं में जिसके करते नित्य निवास
कस्तूरी मृग, सिंह, ऋक्ष, गज, चमरी धेनु आदि सविलास,
गुञ्जित करते मधुगीतों से गिरि कानन के मंजुल कुञ्ज
पुष्पों-से अनन्त वर्णों से भूषित नित विहगों के पुञ्ज।

दिशा भूल कर दिक् दिग्भ्रम में यहां भटकती चारों ओर,
भूल काल क्रम प्रकृत, मुक्त श्रम करता कल्पना काल कठोर,
कला-काव्य के मौलिक क्रम के बन स्वतन्त्र सुंदर विन्यास,
करते हैं ऋतु-काल अलौकिक क्रम से यहाँ अपूर्व विलास।

अविचल तप के से प्रतीक वे शिखर शिला निश्चल निस्पन्द,
मेघ प्रपातो के निस्वन में ध्वनित मन्द वेदो के छन्द,
निर्झर सरिताओ के स्वर में बहते बहुमुख शास्त्र-पुराण,
शुद्ध समीरण में सवाहित सहज तत्व का दुगम ज्ञान।

सदा समाधि-लीन शिव-सा ही अखिल विश्व का मगल मूल,
जीवन और जग की विभूति है इसके श्री-चरणो की धूल,
ध्यान लीन दृग के कोटर से निःसृत करुणामृत की धार,
भरती भारत के गृह-गृह में जीवन का वैभवभाण्डार।

उज्ज्वल तेज, कान्ति महिमा से यह जीवन का ज्योतिर्दीप
कर देगा चिर प्राप्ति सिद्धि से जीवन के सब इष्ट समीप,
उमा और शकर के तप का योग-पूत यह पीठ महान
तपोभूमि कर पद पद जग का, होगा सस्कृति का वरदान।

—रामानन्द तिवारी
जन्म १९१९

हिमालय के आँसू

दद यह कैसा हिमालय! आज यह कैसा रुदन है?
क्या हुआ जो सिसकियों के भार से बोझिल पवन है?
गल रहा चट्टान का तन आज क्यों बनकर हिमानी?
वज्र से मन में जगी कोई दबी पीड़ा पुरानी?
आग से छलका हिमालय! अश्रु जो पहला तुम्हारा।
दे गया सहमा किसी भूचाल का मुझ को इशारा!

बह चली नदियाँ उछल छल-छल, विकल निर्झर चले हैं,
अश्रु जल है, पर, मुझे हर बूंद में शोले मिले हैं।
प्राण की ज्वाला पिघल कर आँसुओं में ढल रही है,
आदमी के दर्द की कोई कहानी चल रही है।
मैं न सुन पाता, मगर संवेदना सब सुन रही है,
अश्रु कितने गिन रही है, दाह कितना, गुन रही है।

पढ़ रहा हूँ मैं तुम्हारी वेदना की मूक भाषा,
दे गई है आग मेरे प्राण को तेरी पिपासा।
और तेरे साथ मेरे गान गीले हो गए हैं,
राग भारी हो गए, अरमान गीले हो गए हैं।
हां, मगर मैं स्वाभिमानी, दृग बहा पाता नहीं हूँ,
सत्य हूँ, रोकर हृदय का दर्द गा पाता नहीं हूँ।

दाह कितना हो, बिलखना मैं न लेकिन सीख पाया,
पी गया जितना मिला, विष, और पीकर मुस्कराया,
मैं समझता हूँ तुम्हारी पीर, प्राणों की विकलता,
घुल रहे तुम, पर हमारा दाह बहता है पिघलता।
आँख तेरी है, मगर रोता दुखी संसार इसमें,
रो रहा है धर्म इसमें, रो रहा है प्यार इसमें।

तुम कि जो इस सृष्टि के सार चलन देखे हुए हो,
मास-वर्षों का, युगों का सचरण देखे हुए हो।
वह प्रथम मानव कि जिसने इस धरा पर आख खोली,
भर गया कितनी उमगो से हृदय की रिक्त झोली।
तुम हँसे इतना कि तुमने यह धरित्री सीच डाली,
और पतझर ने तुम्हारे सामने ग्रीवा झुका ली।

पट गया हरियालियों से शुष्क रेगिस्तान हारा,
बन गये थे तुम नियति के दूत! जीवन को सहारा।
चम के तन पर वसन, नख-दन्त-अस्त्रों का अहेरी,
डोलता फिरता गुँजाता नर-विजय की दिव्य भेरी।
एक-दो, दस-बीस, क्रमश एक मेला जुड गया था,
आदमी का हाथ रचना की डगर पर मुड गया था।

साधना ऊपर उठी नक्षत्र नभ के तोड लाइ,
श्रम ने विधवा दिशा के भाल पर रोली रचाइ।
लालिमाओ ने पवन की डाल पर झूला झुलाया,
आदमी आगे बढा तो सिन्धु सातो छान आया।
भूख जीवन की रहस्यो के किवार खोलती थी,
सभ्यता अपनी धरा पर मुक्त होकर डोलती थी।

और तब से रात-दिन ढलने रहे, युग-कल्प बीते,
खोजता आया चला इन्सान जीने के सुभीते।
एक अकुर था जहाँ, झुरमुट गुलाबो के खडे है,
सिर झुकाए धूल में रौंदे हुए काँटे पडे है।
आँधियो में दीप जीवन का कमल सा खिल रहा है,
स्वग का आसन धरा की गजना से हिल रहा है।

किन्तु तब में आज में कितना बडा अन्तर हुआ है,
आदमी भीतर घुना, बाहर भले उर्वर हुआ है।
भू-गगन बाँधे, उदधि बाँधा, दिशाएँ बाँध लाया,
एक अपनी ही पिपासा नर न अब तक बाँध पाया।
दो हृदय के बीच कितने भेद की दीवार आई,
शक्ति ने अपने लहू को रौंदने भेरी बजाइ।

धर्म ने चाहा भ्रमित नर का अँधेरा पथ बदल दे,
कर्म ने चाहा हृदय की राह के काटे कुचल दे।
ज्ञान की गंगा बही, इसके कलुष पर धुल न पाए,
अनसुनी कर बढ गया यह दम्भ की ग्रीवा उठाए।
राम का पौरुष जगा, घनश्याम की गीता जगी थी,
स्नेह का वरदान ले राधा जगी, मीरा जगी थी।

बुद्ध गाँधी की तपस्या, सूर - तुल्सी का तराना,
खाल खिचवा दी इसे 'तबरेज' ने चाहा जगाना।
युद्ध - हिंसा, पाशविकता का, घृणा का क्रम न बदला,
चढ गए सूली सहज ईसा मगर आदम न बदला।
निर्वसन तन पर वसन पर मन अभी तक निर्वसन है,
नग्न प्राणो पर न कोई भव्यता का आवरण है।

तर्क है, श्रद्धा नही, विश्वास का सबल नही है,
आदमी के पास पावन प्यार का आँचल नही है।
रो रहे हो तुम हिमालय! घाव कुछ ज्यादा हरे है,
सृष्टि के शव पर तुम्हारे अश्रु अक्षत - से झरे है।
बिजलिया की यह कडक, काली घटाएँ आ गई है,
चाँद - तारो पर निराशा की परत - सी छा गई है।

कुण्डली मारे तिमिर की सर्पिणी फुफकारती है,
क्रुद्ध झंझावात, प्राणों की बुझी सी आरती है।
पर हिमालय! ओ पुरातन विश्व-मानव के पुजारी!
व्यर्थ जाएगी नहीं संवेदना निश्छल तुम्हारी।
आज भी मेरा अटल विश्वास, आएगा सवेरा,
जगमगाएगा नये आलोक से आकाश तेरा।

—आनन्द मिश्र
जन्म १९३३

हिमालय के प्रति

भारत के शीश हिमालय को,
है मेरा वारम्वार नमन।

सबसे पहले जिसके माथे पर–
सूरज तिलक लगाता है,
जिसके यश को सागर अपनी
अनगिन लहरा से गाता है,
जिसको ऊँचाइ पर, म ही क्या–
गर्वित भारतमाता है,

जननी के इस गौरव गिरि की
आरती सजाता नील - गगन।

जिसके चरणो पर धरती–
औ' वाहा मे गग-जमुन जल है,
जिसके नयनो का काजल ही–
उडकर वनता वादल-दल है,
पवत कैसे कह दूँ इसको–
यह तो मेरा तीथस्थल है।

इस तीरथ के दर्शन से ही–
मानस वन जाता है दपण।

यो तो इसने सवकी उन्नति
अपनी ही जैसी चाही है,
सबके सँग सच्चाइ औ'
सुन्दरता की नीति निवाही है,
पर कभी किसी से झुका नही
इसका इतिहास गवाही है,

ऐसे गर्वोन्नत प्रहरी पर
न्योछावर मेरा तन-मन-धन।

भारत के शीश हिमालय को
है मेरा बारम्बार नमन!

—रमानाथ अवस्थी
जन्म १९२६

देवतात्मा जय हिमालय

शान्ति की साकार प्रतिमा
जय महानगराज जय जय!
देवतात्मा जय हिमालय!

दिव्य पुंजीभूत गौरव तुग भारत भाल तुम हो,
चेतना की मूर्ति मङ्गल, मृण्मयी हिमज्वाल तुम हो।

लोक का आलोक उज्ज्वल
तुम शिखर हो स्वर्ण छविमय!
देवतात्मा जय हिमालय!

ध्यान में कबतक रहोगे लीन यो फिर आज जागो,
शत्रु प्राङ्गण में तुम्हारे है खडे नगराज जागो!

दस्यु दल देखो मिटाते
आ रहे पावन शिवालय,
देवतात्मा जय हिमालय!

एक अगडाई तुम्हारी भग्न कर दे ध्यान हर का,
खोल दे ज्वालामुखी का स्रोत हर ले भय समर का।

दानवो को आज अपनी
शक्ति का दे दो सुपरिचय!
देवतात्मा जय हिमालय!

बासुरी में तुम विजय की शखध्वनि विकराल कर दो,
रक्त को अङ्गार-कणिका, मोम को भी वज्र कर दो!

जागरण की मन्त्र-ज्वाला से
जगे नूतन युगोदय!
देवतात्मा जय हिमालय।

राष्ट्र के रक्षार्थ कण-कण हो समर्पित देश जन का,
मुक्ति जय रणघोष गूंजे मन्दिरों से भीष्म प्रण का।

भरत - भू अपराजिता
बलिवेदिका बन जाय निर्भय!
देवतात्मा जय हिमालय!

—आरसी प्रसाद सिंह
जन्म १९१३

गुरु-गौरव-गिरि सीमा पर

भारत के उत्तर के उन्नत मानदण्ड की
जीवित जाग्रत मर्यादाओं को विदीर्ण कर,
पदाघात से जीर्णशीर्ण कर
शुभ्र शान्ति की सौम्य मूर्ति को हत-विकीर्ण कर,
तुमने जो
इतिहास-विरोधी-युग अवरोधी,
श्रेष्ठ शील-सस्कार-निरोधी,
आक्रमण किया है
जनमन के आदर्श देश पर—
सहज शस्य-श्यामल प्रदेश पर,
हम उसका प्रतिकार करेंगे,

अमर समर में रमे राम के परम ध्यान से
मेघ और मारुत-मतंग के बल विधान से
उमड चली निर्बाध रक्त की रौद्र धार से
हम तुमको विध्वस्त करेंगे—

इन्द्रायुध से हम सम्पादित पूर्णाहुति सहार करेंगे,
रज में तुमको हे रणरागी विरज करेंगे,
हम गुरु-गौरव गिरि सीमा पर,
मोक्ष द्वार पर,
मानदण्ड का मान प्राप्त कर,
जय का अनहद नाद करेंगे,

आयुर्बल का सोम पियेंगे।
ब्रह्मा के शत वर्ष जियेंगे।

—केदारनाथ अग्रवाल
जन्म १९११

हिमकिरीट धारी

तीन समुद्रो के सगम में एक चरण के बल पर
कोइ तापस खडा हुआ है ध्यानावस्थित होकर,
घुटनो तक लम्बी बाँहो को अधवक्त में मोडे
सूरज की अगवानी में दोनो हाथो को जोडे।

ध्यान ज्ञान के साथ तपस्वी है यह महा धनुधर,
एक हाथ में कमल, धनुप है दूजे में प्रलयकर,
जन्मजात ह इसके कुण्डल और कवच चमकीले
शिरस्त्राण हिमवान् श्रृग है जिसके बडे कटीले।

ध्यान मग्न ऐसे तापस पर किसने वार किया है?
छिपकर छुरा चला माथे पर रक्त उछाल दिया है,
शिरस्त्राण पर लाल लहू के चमक रहे अगारे
धधक उठी है आग सम्हल जाओ निमम हत्यारे!

प्रत्यचा खिचते ही दुश्मन पीठ फिरा भागा है
योगी के अधरो पर रण का नया मन्त्र जागा है,
अपने आप अमोघ शक्ति के गीत उठे आते हैं
अफ्रीका एशिया जिन्हें सुन सुन कर दुहराते ह।

एक गीत का बोल प्रगति का रथ यह नही रुकेगा,
प्राण चुकें, बलिदानी वीरो का श्रम नही चुकेगा,
झुक जाये दीवार चीन की नरम हरी टहनी-सी
लेकिन आक्रान्ता के आगे भारत नही झुकेगा!

एक गीत के बोल हमें जनतन्त्र बहुत प्यारा ह
तानाशाही पद्धतियो को हमने धिक्कारा है,
लका, मिस्र, मलाय की आजादी का हर सनिक
हमको लगता था कि हमारी आँखो का तारा है!

एक गीत के बोल कि जय हो उन सब माताओं की
जिनके बेटे गोदी लेटे मौत भरी छाओं की,
धूल नहीं मिल सकी हिमालय को सिर पर धरने का
धन्य हुआ वह छूकर बर्फ जवानों के पाओं की।

खारे जल में एक चरण पर खड़ा हुआ है योगी,
कहता है—माँ बोलो, बोलो क्या कुर्बानी लोगी,
मैं सूरज का पुत्र कर्ण हूँ, कुण्डल-कवच-समन्वित
बस शस्त्र संधान, सिर्फ तुमको करना है इंगित।

अगर कहो तो पीत रक्त से शिरस्त्राण यह धो दूँ
तानाशाही मुण्ड तुम्हारी माला बीच पिरो दूँ,
फिर कोई शैतान इधर का रुख न कभी कर पाये
पर्वत-पर्वत घाटी-घाटी तीर नुकीले बो दूँ।

एक बार धोखा खाया है फिर न कभी खाऊँगा
चीनी चालों के कुचक्र में अब न कभी आऊँगा,
कवच किरीट और कुण्डल मेरे सहजात सहोदर
इन्हें नहीं छोड़ूँगा, अब मैं विरथ नहीं जाऊँगा।

मैं सूरज का पुत्र
दिशाओं में गुंजित मेरी रणभेरी,
मेरा मुकुट रहेगा मेरा,
मेरी भूमि रहेगी मेरी।

—राजनारायण बिसारिया
जन्म १९३१

परम प्रीति से फैला

देखा वर मुद्रा मे दक्षिण कर तुमने है
देखो अब उठी हुइ लौह-मुष्टि
आगे बढ जा सकती ऊपर हिमालय के।

भङ्गुर समझ जिसे किया था प्रहार वही
बन अखड बज्रखड, मृत्यु-प्रण एक शपथ
कन्याकुमारी से हिमगिरि तक फैल गया!

गया हूँ हिमालय के पार कइ बार मैं भी
लेकर अमतमयी वाणी अभिताभ की।

किन्तु तुम आये हो रक्तलुब्ध श्वापद बन,
तभी स्वीकार करवायेंगे ऋण तुम से,
निष्कलक कर, हिमवत का पवित्र हिम
जिस दिन तुम्हारे इन मद-घूर्णित चक्षुओं की
लाली दूर कर देंगे।

—प्रेमेन्द्र मित्र
जन्म १९०५

मानसरोवर आमुख है

देहरी है लद्दाख हमारी
नेफा घर का द्वार है,
आँगन है आसाम हिमालय
आँगन की दीवार है।
कंकर कंकर शिवशंकर है
तीर्थ राज कैलाश का।
मानसरोवर आमुख है
निज भारत के इतिहास का।

—नीरज
१९२६

तुम हमारी चोटियों की बर्फ को यों मत कुरेदो

आँधियों ने गोद में हमको खिलाया है न भूलो,
कण्टकों ने सिर हमें सादर झुकाया है न भूलो,
सिन्धु का मथ कर कलेजा हम सुधा भी शोध लाये,
औ' हमारे तेज से सूरज लजाया है न भूलो।

वे हमी तो हैं कि इक हुंकार से यह भूमि काँपी,
वे हमी तो हैं, जिन्होंने तीन डग में सृष्टि नापी,
और वे भी हम, कि जिनकी सभ्यता के विजयरथ की,
धूल उड़कर छोड़ आयी छाप अपनी विश्वव्यापी।

वक्र हो आई भृकुटि तो ये अचल नगराज डोले,
दश दिशाओं के सबल दिक्पाल ये गजराज डोले,
डोल उट्ठी है धरा, अम्बर, भुवन, नक्षत्र, मण्डल,
ढीठ अत्याचारियों के अहंकारी ताज डोले।

सुयश की प्रस्तर शिला पर चिह्न गहरे हैं हमारे,
मान गिरिशृंगों पर धवल ध्वज चिन्ह लहरे हैं हमारे,
वेग जिनका था कि जैसे काल की अंगड़ाइयाँ हों,
उन तरंगों में निडर जलयान ठहरे हैं हमारे।

मस्त योगी हैं कि हम सुख देखकर सकुचा सुखी हैं,
कुछ अजब मन है कि हम दुख देखकर सकुचा दुखी हैं,
तुम हमारी चोटियों की बर्फ को यों मत कुरेदो,
दहकता लावा हृदय में है कि हम ज्वालामुखी हैं।

लास्य भी हमने किये औ' ताण्डव हमने किये हैं,
वंश मीरा और शिव के, विष पिया है औ' जिये हैं,
दूध मां का, या कि चन्दन या कि केसर जो समझ लो,
यह हमारे देश की रज है, कि हम इसके लिए हैं।

—रामानन्द दोषी
जन्म १९२१

वतन का शिवाला

क्लाओ का मन्दिर अदब का शिवाला,
वतन का पुराना निगहवाँ हिमाला,
यह भारत का मस्तक है भारत का मस्तक
किसी के झुकाये नहीं झुकनेवाला।
हिमाला की चट्टान बन कर उडेंगे।
हम एक-एक चप्पा की खातिर लडेंगे।

नहीं हमको अगयार की अब जरूरत,
हमारा वतन हम करेंगे हिफाजत,
है चीनी लुटेरो को आने का क्या हक?
फरिश्ता भी आये तो लेकर इजाजत,
फलक यह नहीं सर जमीने चमन है।
यह जन्नत नहीं है हमारा वतन है।

बुलाता है तूफा – किनारो से निकलो।
गुफाओ से मडप से, गारो से निकलो।
है खतरे में शेरो! तुम्हारी तराइ
शिकार आ रहा है, कछारो से निकलो।
घटा जुल्म की देश पर छा गयी है।
तुम्हारे गरजने की ऋतु आ गयी है।

फिरे चीनियो के इरादो पे पानी,
चलो हिंद सागर से लेकर रवानी,
तुम आज इस कदर दे दो सुरखी लहू को,
कि घबरा के खुद रुख बदल दे कहानी।
बढो सनसनाते हुए तीर बन कर।
चलो आज भारत की शमशीर बनकर।

यह हमला है हम सबकी इज्जत पे हमला।
यह हमला है पुरखा की जुरत पे हमला।
न सीमा तलक इसको सीमित समझना,
यह हमला है अब पूरे भारत पे हमला।
मगर हमको हमले का कुछ गम नही है।
हमारे यहा भी लहू कम नही है।

हकीकत है नजरो को धोखा नही है,
यह सरहद पे काली है सेना नही है,
यहा लाखो मुण्डो की माला चढेगी,
यह सीमा है लछमन की रेखा नही है।
अगर एक हिस्सा भी मिसमार होगा।
तो अब लाखो लाशो का अम्बार होगा।

है शायर की पाकीजा दुनिया पे हमला,
है कवियो की हर ऊची उपमा पे हमला,
है खतरे में पाकीजगी कल्पना की—
यह हमला है लहराती गगा पे हमला।
बचे जिस तरह भी हिमाला बचाओ।
बचाओ वतन का शिवाला बचाओ।

—नजीर बनारसी

पवत मया आकाश है

नीला नीला व्योम है नीली नीली रात है
भीगे भीगे फूल हैं झीनी झीनी बात है।
जङ्गल के सुनसान में प्राणा की गहराइयाँ।
गहरी गहरी कन्दरा आहो-सी तनहाइयाँ।

बूदा-बांदी देख कर आतप है पाताल में,
रगो की ही भीड है मैदानो के हाल मे।
पवत मेरा मच है छिडती जिसपर रागिनी,
गाता हूँ म झूमकर सुनती सारी यामिनी।

दुहराती सङ्गीत है ऊची नीची वादिया,
पतली सी पगडण्डियाँ टेढी मेढी घाटिया।
आधी है झकझोरती झुकनेवाली डाल को
जुलमी करता तङ्ग है जैसे हर कङ्गाल को।

चश्मा हर पाषाण से फूटे मन के स्नेह-सा,
पेडा के झुकझूम में बन जाता है गेह सा।
ऊँची नीची साइया टेढा मेढा रास्ता,
लगता है जैसे हमें इनसे ही है वास्ता।

अम्बर ही तो झील है दशन ही तो प्यास है,
झरनेवाली बाँह में पवत मया आकाश है।
हल्की-हल्की दूब है चलती फिरती छाँव है,
उठती गिरती है हवा भूला भूला गाँव है।



हिम देवता

छाती पर वर्फीला अंधड झेलता,
मुखरित है फिर पर्वत का हिमदेवता!

मलयानिल करता है उसकी आरती,
जयमाला पहनाती भारत भारती।
फूल रक्त का खिलता कुंकुम थाल पर,
कंकर का टीका शंकर के भाल पर।

ये शताब्दियों की है पावन लावनी!
खेत और खलिहान बने हैं छावनी!

—वीरेन्द्र मिश्र
जन्म १९२८

ताजा पगडण्डियाँ कि जिनको
धूप न छू पाइ है,
आग उगलते हुए वही से
वायुयान जायेंगे ?
चरागाह ये जो वशी-स्वर
तक से रहे अपरिचित,
लिए हुए वदूक हाथ में
वही दनुज आयेंगे ?

उनका यह अभिमान हमीं से
वढ कर आँख मिलाये।
यह मत समझो हम केवल
वीणा है शख नही ह।
झपटे नही किसी पर तो
यह अथ नही है इसका,
पास हमारे केवल सपने
ही ह पग नही ह!

—बालस्वरुप राही

तू भू के प्राणों का शतदल !

सित क्षीर-फेन हीरक-रज से
जो हुए चाँदनी में निर्मित,
पारद की रेखाओं में चिर
चाँदी के रंगों से चित्रित,
खुल रहे दलों पर दल झलमल !

सपनों से सुरभित दृग-जल ले
धोने मुख नित रजनी आती,
उड़ते रंगों के अंचल से
फिर पोंछ उषा सन्ध्या जाती,
तू चिर विस्मित तू चिर उज्ज्वल !

झीने मृदु स्वर्णिम तारा-सी
किरणों के मिस केसर झरती,
हल्के आतप में रस भीनी
सतरंगी रज बरसा करती,
निर्झर में बहता मधु अविरल !

सीपी से नीलम से द्युतिमय,
कुछ पिङ्ग-अरुण कुछ सित-श्यामल,
कुछ सुख-चंचल कुछ दुख-मंथर
फैले तम से कुछ तूल-विरल,
मँडराते शत शत अलि-बादल !

युग व्यापी अनगिन जीवन के
अर्चन से हिम-शृङ्गार किये,
पल पल विहसित क्षण क्षण विकसित
बिन मुरझाये उपहार लिए,
घेरे है तू नभ के पदतल !

ओ पुलकाकुल ! तू दे दिव को
नत भू के प्राणों का परिचय,
कम्पित उर विजडित अधरों की
साधों का चिर जीवित सचय,
तू वज्र-कठिन किशलय-कोमल !



हे चिर महान्

यह स्वर्णरश्मि छू श्वेतभाल,
बरसा जाती रङ्गीन हास,
सेली बनता है इन्द्र-धनुष,
परिमल मल मल जाता बतास !
पर रागहीन तू हिमनिधान!

नभ में गर्वित झुकता न शीश,
पर अंक लिए है दीन क्षार,
मन गल जाता नत विश्व देख
तन सह लेता है कुलिश-भार!
कितने मृदु कितने कठिन प्राण!

टूटी है कब तेरी समाधि,
झंझा लौटे शत हार हार,
बह चला दृगों से किन्तु नीर,
सुन कर जलते कण की पुकार!
सुख से विरक्त दुख में समान!

मेरे जीवन का आज मूक,
तेरी छाया से हो मिलाप
तन तेरी साधकता छू ले,
मन ले करुणा की थाह नाप !
उर में पावस दृग में विहान!

—महादेवी

आशंसा

बभ्रु कृष्णा रोहिणी विश्वरूपा ध्रुवा भूमिं पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम्।
अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम्॥

कपिल, श्यामल, गैरिक वर्णवाली विश्वरूपा ध्रुव और मघवारक्षित भूमि पर हम अपराजेय अमर और अक्षत होकर अधिष्ठित रहें।

यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैलबाः।
युद्धन्ते यस्यामाक्रन्दो यस्यां वदति दुन्दुभिः।
सा नो भूमिः प्रणुदतां सपत्नानसपत्नं मा पृथिवी कृणोतु॥

जिस पर मुखर मानव गान गाते हैं, नृत्य करते हैं, युद्ध करते हैं, जिस पर दुन्दुभि बजती है, कोलाहल रहता है, वह पृथिवी प्रतिपक्षियों का दूर अपसारित कर दे और मुझे शत्रुहीन रखे।

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती॥

जो अनेक प्रकार के भिन्न भिन्न भाषावाले और नाना धर्मवाले जनों को यथा स्थान धारण करती है वह पृथिवी सरल स्थिर गौ के समान हम सुख की सहस्र धारायें प्रदान करे।

अथर्व०

